Chapter-4

:: चतुर्थ अध्याय ::

:: समकालीन उपन्यास-साहित्य के संदर्भ में प्रेमचन्द के उपन्यासों का मूल्यांकन ::

:: चतुर्थ अध्याय ::

: समकालीन उपन्यास-साहित्य के सन्दर्भ में प्रेमचन्द के उपन्यासों
का
मूल्यांकन :

==========

प्रास्ताविक :

प्रेमचन्दकाल में हमें सामाजिक, ऐतिहासिक, राजनीतिक प्रकार के उपन्यास उपलब्ध होते हैं। मनोवैज्ञानिक उपन्यासों का सूत्रपात हो गया था। उपन्यासों में राजनीतिक प्रवृत्ति का चित्रण भी प्रेमचन्द के ही अनेक उपन्यासों में प्राप्त होता है, जिसे हम पूर्ववर्ती अध्याय में देख चुके हैं। उपन्यासों में समाजवादी या

मार्क्सवादी दृष्टि भी उत्तर-प्रेमचन्दकाल में मिलने लगती है । वस्तुतः प्रेमचन्द एक ऐसे बड़े लेखक हैं जिनके लेखन में हमें परवर्तीकाल की कई-कई प्रवृत्तियों के संकेत मिल जाते हैं । जिस प्रकार सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला की कविता में हमें छायावादी कविता के समाप्त लक्षण मिलते हैं, किन्तु वहीं पर निरालाजी रुके नहीं हैं, अपनी ही कविता का अतिक्रमण भी वे करते हैं और उनकी कविता में बाद की कविता, नयी कविता, यात्रमकालीन कविता के बीज मिलते हैं; ठीक उसी प्रकार प्रेमचन्द के उपन्यासों में हमें गांधीवाद xxx का प्रभाव तो दृष्टिगोचर होता है, किन्तु साथ ही साथ उसका अतिक्रमण भी मिलता है, जिसे हम "गोदान", "रंगभूमि" प्रभृति उपन्यासों में लक्षित कर सकते हैं । प्रस्तुत अध्याय में हमारा उपक्रम यह लक्षित करना है कि परवर्ती उपन्यास-साहित्य में, विशेषतः समकालीन उपन्यास साहित्य में प्रेमचन्द का प्रभाव किस हद तक देखा जा सकता है और इस सिलसिले से उनके उपन्यासों की प्रासंगिकता की क्या स्थिति है ।

यहाँ एक बात का स्पष्टीकरण हम करना चाहेंगे कि जब हम "समकालीन उपन्यास साहित्य" की बात करते हैं, तो हमारा तात्पर्य पिछले तीन-चार दशकों के साहित्य से है । अंग्रेजी के contemporary शब्द के रूप में हमने उसे ग्रहण किया है । कोई एक वर्ष-विशेष के बाद का साहित्य ही समकालीन है, ऐसी कोई संकल्पना यहाँ नहीं है ।

समाजवादी-यथार्थवादी प्रवृत्ति :

यह निर्दिष्ट किया जा चुका है कि प्रेमचन्द के लेखन में हमें एक सतत विकास की प्रक्रिया मिलती है । उनकी दृष्टि शनैः शनैः ही अधिक साफ होती गई है । उनके "गोदान"

तथा "मंगलसूत्र" जैसे उपन्यासों तथा "कफ़न", "सद्गति", "पूस की रात" जैसी कहानियाँ तथा "हंस" और "जागरण" के उन दिनों के लेखों से, विशेषतः "महाजनी सभ्यता" वाला ऐतिहासिक - दस्तावेजी लेख प्रवृत्ति से यह साफ़तौर पर झलकता है वे उधर पूर्णतया मार्क्सवादी हो रहे थे। "महाजनी सभ्यता" को प्रेमचन्द का अंतिम संदेश समझना चाहिए। "इस लेख से ज्ञात होता है कि प्रेमचन्द पूरे साम्यवादी हो चुके थे। इसी प्रकार का आखिरी संदेश उनके अपूर्ण उपन्यास 'मंगलसूत्र' में मिलता है, या उनकी 'दो पत्नियाँ' शीर्षक कहानी में।"[1]

आठ अक्तूबर को प्रेमचन्दजी की मृत्यु हुई थी। सवेरे साढ़े सात बजे और सात अक्तूबर रात को तीन बजे भी जैनेन्द्र से उनकी जो बातें हुई थीं, उनके सरोकार साहित्य और हंस को लेकर थे —

"जितनी चिन्ता पत्नी और बच्चों के भविष्य की थी, उतनी ही "हंस" तथा साहित्य के भविष्य की।

"तीन बजे जैनेन्द्र से कहा — "मेरे हाथ दबा दो" जैनेन्द्र ने दबाया और कहा — "आप कुछ फ़िक्र न कीजिए, बाबूजी, आप अब अच्छे हुए और काम के लिए हम सब लोग हैं ही।" प्रेमचन्द उनकी ओर देखते रहे, "आदर्श से काम नहीं चलेगा।"

"उन्हें चिन्ता यही थी कि "हंस" कैसे चलेगा। जीयेगा या मर जायेगा? जीने की आस थी। प्रेमचन्द इस बात की कल्पना ही नहीं कर सकते थे कि "हंस" न जीयेगा। परन्तु हिन्दी संसार का अनुभव कटु था। आश्वस्त नहीं कर सकता था। "हंस" के लिए अब वह झुकने को तैयार थे —

"आदर्श से काम नहीं चलेगा । "

" उधर नवोदित युवक जैनेन्द्र सोचते — " बिना झुके भी "हंस" क्यों न जिये ? यह आपका अख्तियार है , तब वह बिना झुके ही जियेगा । "

" जैनेन्द्र ने कहा — " आदर्श .... "

"प्रेमचन्द बोले — " बहस न करो । " " 2

जैनेन्द्र के साथ की उनकी यह अंतिम बातचीत । उनके अंतिम असमाप्त उपन्यास "मंगलसूत्र" के देवकुमार की यह सोच — " हां , देवता हमेशा रहे हैं और हमेशा रहेंगे । उन्हें अब भी संसार धर्म और नीति पर चलता हुआ नज़र आता है । वे अपने जीवन की आहुति देकर संसार से विदा हो जाते हैं । लेकिन उन्हें देवता क्यों कहो ? कायर कहो , आत्मसेवी कहो । देवता वह है जो न्याय की रक्षा करे और उसके लिए प्राण दे दे । अगर वह जानकर अनजान बनता है तो धर्म से गिरता है , और अगर उसकी आंखों में यह ~~कुव्यवस्था~~ कुव्यवस्था खटकती ही नहीं तो वह अंधा भी है और मूर्ख भी, देवता किसी तरह नहीं । और यहां देवता बनने की जरूरत भी नहीं । देवताओं ने ही भाग्य और ईश्वर और भक्ति की मिथ्याएं फैलाकर इस अनीति को अमर बनाया है । मनुष्य ने अब तक इसका अन्त कर दिया होता या समाज का ही अन्त कर दिया होता तो इस दशा में जिन्दा रहने से कहीं अच्छा होता । नहीं , मनुष्यों में मनुष्य बनना पड़ेगा । दरिन्दों के बीच में उनसे लड़ने के लिए हथियार बांधना पड़ेगा । उनके पंजों का शिकार बनना देवतापन नहीं भड़ुआ है । " 3

और फिर "महाजनी सभ्यता " के सन्दर्भ में उनके ये विचार — " इस महाजनी सभ्यता में सारे कामों की गरज महज पैसा होती है । ... इस दृष्टि से मानो आज महाजनों का ही

राज्य है । मनुष्य समाज दो भागों में बंट गया है । बड़ा हिस्सा तो मरने और अपने बालों का है, और बहुत ही छोटा हिस्सा उन लोगों का है, जो अपनी शक्ति और प्रभाव से बड़े सम्प्रदाय को अपने वश में किये हुए हैं । उन्हें इस बड़े भाग के साथ किसी तरह की हमदर्दी नहीं, जरा भी रू-रियायत नहीं । उनका अस्तित्व केवल इसलिए है कि अपने मालिकों के लिए पसीना बहाये, खून गिराये और एकदिन चुपचाप इस दुनिया से विदा हो जाये । " 4

और "काम का सिपाही " xxx की ये पंक्तियाँ — "अन्दर कहीं एक आवाज है जो मुझसे बराबर कहती रहती है कि यह तुम्हारी आखिरी बीमारी है, इससे उठना नहीं है तुमको, लेकिन इस वक्त भी जो सवाल उनको तंग कर रहे हैं वह आत्मा और परमात्मा, स्वर्ग और नरक, जिन्दगी और मौत के दार्शनिक सवाल नहीं हैं, समाज के न्याय और अन्याय के सवाल हैं । " 5

ये बातें यहाँ इसलिए ध्यातव्य हैं कि एक लेखक जो इस कदर सामाजिक सरोकारों और चिन्ताओं से जुड़ा रहा है कि अपनी मृत्यु के कुछ घण्टे और कुछ दिन पहले भी वह उन्हीं विषयों में घिरा हुआ हुआ रहता है, तो ऐसे लेखक का लेखन कितनी दूर तक जाता है और वह कितने-कितने लोगों को कितने-कितने समय तक आलोड़ित-विलोड़ित करता है ।

प्रेमचन्दजी वैदिक विचार-प्रवाहों से कितने ओतप्रोत हैं, इसका खयाल भी इस बात से हो जाता है कि पंडित जवाहर-लाल नेहरू ने द्वितीय विश्वयुद्ध शुरू होने से पूर्व त्रिवेन्द्रम में जो व्याख्यान

दिया था उसके अनुसंधान में यहां से रवीन्द्रनाथ ठाकुर, रामानंद-चट्टोपाध्याय, नंदलाल बसु, प्रफुल्लचन्द्र राय, जवाहरलाल नेहरू आदि ने जो घोषणापत्र भेजा था ब्रुसेल्स और पेरिस, उसमें इन सब महानुभावों के साथ-साथ मुझ्झोंया पर बैठे हुए प्रेमचन्द के भी हस्ताक्षर थे। युद्ध की छाया गहरी होती जा रही थी। संसार भर के कलाकार, लेखक और चिंतक उद्विग्न थे। सबकी यह चिन्ता थी कि युद्ध के इस महा विनाशक विकराल दैत्य को कैसे रोका जाय। पेरिस और ब्रुसेल्स उसके केन्द्र थे और रोमां रोलां तथा आंरी बारबूस इस क्रांति-महायज्ञ के अग्निहोत्र थे। [6]

और जिस घोषणापत्र का जिक्र है उसमें कहा गया था — "एबिसिनिया को पचाना करने के लिए इटली ने जिन सब पद्धतियों का सहारा लिया है, उनसे बुद्धि और सभ्यता के प्रति विश्वासी सब लोगों को गहरा धक्का लगा है। बड़ी-बड़ी साम्राज्यवादी शक्तियों की प्रतिद्वंद्विता और परस्पर विरोध, संकीर्ण राष्ट्रीयतावादी मनोवृत्ति को मनमाना बढ़ाया, लड़ाई के सामानों की तेज वृद्धि — ये सब संकटमय परिस्थिति की पूर्व सूचना हैं। इस समय हम अपनी ओर से और अपने सभी देशवासियों की ओर से दूसरे देशों के जनसाधारण के के स्वर में स्वर मिलाकर कहना चाहते हैं कि हम युद्ध से घृणा करते हैं और चाहते हैं कि युद्ध का रास्ता छोड़ा जाय, युद्ध में हमारा कोई भी हित नहीं है। किसी भी साम्राज्यवादी युद्ध में भारतवर्ष के योगदान के हम घोर विरोधी हैं क्योंकि हम जानते हैं कि आगामी युद्ध में xxxxxx सभ्यता का विध्वंस हो जायगा।" [7]

अभिप्राय यह कि ऐसे महान लेखक का प्रभाव बहुत दूर तक जाता है और इधर प्रेमचन्दजी में जो मार्क्सवादी-प्रगतिवादी दृष्टि विकसित हो रही थी उसका प्रभाव इस बाद से, इधर के लेखकों में

लक्षित कर सकते हैं । यहाँ एक और बात की ओर भी हम ध्यान आकृष्ट करना चाहेंगे कि प्रस्तुत अध्याय में "समकालीन" शब्द का जो प्रयोग हुआ है, वह प्रेमचन्द के समकालीन लेखकों के सन्दर्भ में न होकर, इधर के पिछले तीस-चालीस साल के औपन्यासिक साहित्य के सन्दर्भ में है । प्रेमचन्द के समकालीनों की चर्चा तो प्रथम अध्याय में पृष्ठभूमि के रूप में कर चुके हैं ।

प्रेमचन्दजी जिस यथार्थवादी प्रवृत्ति को लेकर चल रहे थे उसका विकास हम "जल टूटता हुआ", "अलग अलग वैतरणी", "आधा गाँव", "धरती धन न अपना", "नदी फिर बह चली" आदि ग्रामीणीय उपन्यासों में परिलक्षित कर सकते हैं । स्वाधीनता के उपरांत विज्ञान, प्रौद्योगिकी, ज्ञान-प्रसार प्रौद्योगिकी, इलेक्ट्रोनिक मीडिया वगैरह के कारण गाँवों में पाश्चात्य कई अच्छे-बुरे परिवर्तन आये हैं, किन्तु शोषण की प्रक्रिया आज भी अनवरत ढंग से चालू है । हम इन उपन्यासों में यह भलीभाँति लक्षित कर सकते हैं । आज भी गाँवों में छोटे किसानों और गरीबों को दबाया जाता है । विकास-योजनाओं के मुखड़े चेहरों में छोटे किसानों का शोषण-चक्र आज भी जारी है । स्वाधीनता के तुरन्त बाद "मैला आँचल" में रेणुजी ने यह स्पष्ट कर दिया था कि आज़ादी के बाद सत्ता का दौर किनके पास जानेवाला है । उसके कुछ वर्ष बाद भगवतीचरण वर्मा ने "प्रणय और मरीचिका" में उसे और स्पष्ट करने का यत्न किया है; किन्तु प्रेमचन्दजी ने तो "प्रेमाश्रम", "रंगभूमि" तथा "गोदान" प्रभृति उपन्यासों में इसे बहुत पहले भाँप लिया था ।

डा. रामदरश मिश्र अपने उपन्यास "जल टूटता हुआ" उपन्यास में मानवीय मूल्यों के टूटने का दर्द इस प्रकार रेखांकित

करते हैं — " गांव टूट रहा है, मूल्य टूट रहे हैं, सत्य टूट रहा है, कोई किसीका नहीं, सब अकेले हैं, एक दूसरे के लगाभाई, वही क्यों सबका ठेका लिए फिरे ... गांव टूट रहा है, मगर नहीं एक नया गांव बन भी रहा है, वह है किसानों — मजदूरों का। जगपतिया का खेत नहीं कब्जा सके महीपसिंह। वह अकेला नहीं था, उसके साथ अनेक हाथ उठ गये थे मरने-मारने को तैयार।" 8

उक्त कथन उपन्यास के नायक सतीश का प्रलाप है। इससे ध्वनित होता है कि विघटन के भीतर से एक नये समाज का निर्माण भी हो रहा है। इस नये वर्ग के तेवरों का संकेत प्रस्तुत उपन्यास में ही जगपतिया चमार के कथन में हमें मिल जाता है। महीपसिंह जगपतिया को डांटने आये हैं कि उसका लड़का रमपतिया काम पर क्यों नहीं आया और शहर नौकरी पर क्यों चला गया। इसके उत्तर में वह कहता है — " बबुआ, गाली मत दीजिए, रमपतिया नौकरी पर आ गया है तो क्या हो गया, नौकरी नहीं करेंगे तो हम लोग खायेंगे क्या ? " 9

इसी उपन्यास में दलित-कन्या लवंगी का जो चित्रण मिलता है, और उसका जो तेज-तर्रार स्वरूप बताया है, उससे "कर्मभूमि" की मुन्नी तथा "गोदान" की सिलिया की मां का स्मरण हो आना बिलकुल स्वाभाविक है। बात यों है कि लवंगी का भाई हंसिया एक ब्राह्मण-कन्या से फंसा हुआ है। एक बार पकड़े जाने पर वह लड़की सारा दोषारोपण हंसिया पर कर देती है। उस पर गांव के उच्चवर्ग के लोग हंसिया की बहुत बुरी तरह से पिटाई करते हैं। वे हंसिया को पिट ही रहे थे कि लवंगी वहां पहुंच जाती है और दहाड़ते हुए कहती है — क्या हुआ अगर मेरे भाई ने एक बामन की लड़की से भला-बुरा किया ?

... चमार का खून खून नहीं है ? बामन का खून ही खून है। हमारी कोई इज्जत नहीं होती क्या ? बामनों की ही इज्जत होती है, जब चमरौटी की तमाम लड़कियों पर ये बाबा लोग हाथ साफ करते हैं, तो कोई परलय नहीं आती और कोई चमार बामन की लड़की को छू ले तो परलय आती है... हरिजनों के नेता, मैं तुमसे फरियाद करती हूँ कि वोट लेने वाले नेताओं से जाकर कहो कि हमारा खून खून नहीं है, हमारी इज्जत इज्जत नहीं है तो हमारा वोट ही वोट क्यों है ? " 10

प्रस्तुत उपन्यास में प्रेमचन्द की ही परंपरा को आगे बढ़ाते हुए मिश्रजी ने न केवल कुंजू-बदमी के प्रेम-संबंधों को चित्रित किया है, अपितु उनका विवाह भी करवाया है। कुंजू ब्राह्मण-ठाकुर है, जबकि बदमी चमारिन है। दोनों का प्रेम-संबंध विशुद्ध प्रेम की सीमाओं को स्पर्श करता है। कुंजू गांव के सभी लोगों के सामने साहसपूर्वक यह कबूल करता है कि बदमी के पेट में जो बच्चा है वह उसका है।

जगदीशचन्द्र के उपन्यास "कभी न छोड़ें खेत" में प्रेमचन्दजी के "सेवासदन" के महन्तजी की भांति एक महन्तजी हैं, जो जमींदारी तथा लेनदेन आदि के सभी काम करते हैं। एक बार जो महंतजी के चंगुल में फंसता है, वह फिर कभी नहीं उबर सकता। प्रेमचन्दजी की भांति जगदीशचन्द्र भी प्रस्तुत उपन्यास में ग्राम्य कृषि-जीवन के नाना आयामों को स्थापित करते हैं। आजादी के उपरांत परिवर्तित स्थितियों में महन्तजी जैसे लोग एक तरफ छोटे किसानों का शोषण सूदखोरी के माध्यम से कर रहे हैं, तो पूंजीवाद और सामंतवाद के मिले-जुले संस्कारों वाले संपन्न किसान गुटबंदी की राजनीति के कारण फौजदारियों में डूबे रहते हैं। "गबन" की भांति यहां भी पुलिस विभाग अमानवीयता और

उद्दंडता सामने आती है । "मंगलसूत्र" की भाँति इसमें भी न्यायालयों में व्याप्त भ्रष्टाचार को उधेड़ा गया है । इसके अतिरिक्त अफसरशाही लालफीताशाही , अस्पतालों के डाक्टरों में व्याप्त भ्रष्टाचार आदि की कलई भी यहाँ पूर्णरूपेण खोली गई है ।

जगदीशचन्द्र के ही उपन्यास "धरती धन न अपना " में भी ग्रामीण जीवन का यथार्थ चित्रण प्रगतिवादी आयामों के तहत किया गया है । इसमें लेखक ने पंजाब के होशियारपुर जिले के धौड़ेवाला नामक गाँव को लिया है । गाँव के चौधरी और महाजन इस गाँव के चमारों का जिस प्रकार सामाजिक , आर्थिक , नैतिक शोषण करते हैं इसका प्रेमचन्द की भाँति वस्तुनिष्ठ चित्रण यहाँ भी हुआ है । छोटी जाति के लोगों से बेगार करवाना यह गाँव के उच्च-जाति के लोगों का मानो जन्मसिद्ध अधिकार है । इस संदर्भ में एक प्रसंग आया है । बीगाने के पानी के कारण नाले पर के बन्ध को तोड़ना पड़ता है , फलतः उसमें एक छेद हो जाता है । जब बाढ़ का पानी चला जाता है , तब उस छेद को बन्द करने की बात आती है । बाँध को तोड़ा गया था , गाँव को बचाने के लिए , अतः छेद को पूरने का काम भी पूरे गाँव का था । परन्तु केवल चमारों को कहा जाता है । पहले तो चमार मजूरी की आशा में खुशी-खुशी काम में जुट जाते हैं , परन्तु जब मजूरी की कोई बात नहीं करता , तब काली जैसे कुछ चमार युवाओं की ओर से सत्याग्रह की घोषणा कर दी जाती है । काम रुक जाता है । गाँव की नाकेबन्दी करवा दी जाती है । चमारों का खुदरती हाजत तक के लिए निकलना मुश्किल हो जाता है । चौधरियों का भी नुकसान हो रहा था । अतः आंशिक समझौता होता है । इस प्रकार यहाँ भी "कर्मभूमि" , "रंगभूमि" , "प्रेमाश्रम" आदि की भाँति एक वर्ग-संघर्ष की

भूमिका यहाँ भी दृष्टिगत की जा सकती है । प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में अनेक स्थानों पर पेटीबुर्जुआ वर्ग के बुद्धिजीवी लोगों की नपुंसकता को उकेरा है । रायसाहब , विनयसिंह , महेन्द्रप्रतापसिंह , चक्रधर आदि ऐसे ही पात्र हैं । वक्त आने पर ये लोग बौने साबित होते हैं । प्रस्तुत उपन्यास में भी डा. जिन्नदास और दलजसिंह जैसे कामरेडों का चित्रण मिलता है , जो बातें तो बड़ी-बड़ी करते हैं , परन्तु अन्ततः दलदल के टट्टू सिद्ध होते हैं । डा. रामदरश मिश्र के उपन्यास " सूखता हुआ तालाब " के कामरेड मोतीराम भी इसी कोटि में आते हैं । "गोदान" के होरी की भाँति "धरती थम न अपना " का कामी भी अन्ततः टूट जाता है और सब तरह से निराश होकर पुनः शहर भाग जाता है । प्रेमचन्द की भाँति जगदीशचन्द्र ने भी यहाँ गाँव के छोटे किसान या खेतिहर मजदूर की तुलना में शहराती मजदूर की कुछ बेहतर स्थिति को विशेषित किया है ।

डा. शिवप्रसादसिंह के उपन्यास " अलग अलग वैतरणी" में ग्रामीण जीवन की नारकीयता और मूल्यहीनता को और फैलती गंदी राजनीति को दर्द के साथ अंकित किया गया है । विपिन और देवनाथ जैसे शिक्षित युवक गाँवों की स्थिति में सुधार लाना चाहते हैं , किन्तु एक ही वर्ष में उनके हौसले पस्त हो जाते हैं । इस सन्दर्भ में विपिन कहता है : " "करैता" ! उपन्यास में चित्रित गाँव ! एक जीता-जागता नरक है । जिसमें वही आता है , जिसके पुण्य समाप्त हो जाते हैं । चारों ओर कीचड़ , बदबूदार नाबदान , भू-भूत , बीमारियाँ , भुनभुनाते कीड़े , खिसरोली आँखें और बीमारी से फूले पेटवाले छोकरे , घरों में बन्द गन्दगी में आधादअस्तक डूबी औरतें जो एक-दूसरे को सुने आम चौराहे पर नँगियाने में ही सारा सुख और खुशी पाती हैं , धुँधलाते मन के अपाहिज जैसे नवयुवक , जो अँधेरी बन्द

xxx गलियों में बदफेली करने का मौका ढूंढते फिरते हैं , हारे-थके प्रौढ़ जो न गृहस्थी के जुए को उतार डाले हैं , न उसमें उत्साह से जुत पाते हैं । मौत का इन्तजार करते बुड्ढे अपने ही बेटे-बेटियों से उपेक्षित बिलबिलाते रहते हैं — यही है हमारी जन्मभूमि करेला ! " 11

प्रेमचन्द "गोदान" , "मंगलसूत्र" जैसे उपन्यासों में तथा अपने जीवन के अंतिम दिनों में जिस मोहभंग की प्रक्रिया से गुजर रहे थे , उसका xxx xxx बड़ा ही दर्दनाक चित्रण प्रेमचन्द जगन मिसिर के शब्दों में करता है — " आप जा रहे हैं विपिन बाबू जाइये । कोई इसके लिए दोष भी आपको नहीं देगा । सभी जाते हैं । हमारे गाँवों से आजकल इधरका रास्ता खुला है । नियति , तिर्फ नियति । जो भी अच्छा है , काम का है , वह यहाँ से चला जाता है । अच्छा अनाज , दूध , घी , सब्जी जाती है । अच्छे मोटे-ताजे जानवर , गाय , बैल , भेड़-बकरे जाते हैं । तड़े-कड़े मजबूत आदमी जिनके बदन में ताकत है है , देह में कस है , खींच लिए जाते हैं पल्टन में , पुलिस में , मोटरी में , मिल में । फिर वैसे लोग जिनके पास अक्ल है , पढ़े-लिखे हैं , यहाँ कैसे रह जायेंगे ? वे जायेंगे ही , जाना ही होगा । " 12

गाँवों से शहरों में जाना पहले भी होता था , किन्तु एक तो उसकी मात्रा कम होती थी । प्रायः वे लोग शहर की ओर भागते थे , जिन्हें गाँवों में काम नहीं मिलता था या जो ग्रामीण सामंतवादी तत्वों के शिकारों और अत्याचारों से बुरी तरह से त्रस्त थे । बल्कि बीचमें तो गांधीवादी प्रभाव के कारण शहराती लोग गाँवों में जाने लगे थे । "कर्मभूमि" का अमरकान्त तथा "गोदान" के प्रोफेसर मेहता तथा मालती

आदि इस प्रकार के ही लोग हैं, परन्तु अब उनमें भी मोहभंग की स्थिति साफ झलक रही है। प्रस्तुत उपन्यास के विपिन, देवनाथ, मास्टर शशिकान्त आदि भी इसी मोहभंग की प्रक्रिया से गुजर रहे हैं और अब गाँव से उनका मोहभंग हो गया है। इस मोहभंग की स्थिति को विश्लेषित यहाँ जग्गन मिसिर के ही शब्दों में किया गया है। यथा —

" पर अब तो एक नये तरह का अनत गौन हो रहा है। यहाँ रहते हैं वे हैं, जो यहाँ रहना नहीं चाहते, पर कहीं जा नहीं सकते। यहाँ से अब जाते वे हैं, जो यहाँ रहना चाहते हैं; पर रह नहीं पाते।" 13

और जो बात ग्राम और नगर तथा नगर और महानगर के सन्दर्भ में कही जा सकती है, लगभग वही बात देश और विदेश के सन्दर्भ में भी कही जा सकती है। इधर की एक बहुत बड़ी चिन्ता यह भी रही है कि हमारा बुद्धि-धन अब विदेश, विशेषतः अमरिका, जा रहा है। स्वाधीनता-पूर्व की चिन्ता केवल यही थी कि हमारा धन उपनिवेशवाद के कारण योरोप चला जाता था, अब केवल धन ही नहीं, बुद्धिधन भी जा रहा है। इसकी एक दर्दभरी अभिव्यक्ति हमें निम्न कविता में उपलब्ध होती है —

"बुराना और नार्लिकर ? चन्द्रशेखर ? / क्या जरूरत ? / देश की सरस्वती तलाक देकर जा रही है / अब हम उनको ज्यादा सह नहीं सकते / क्योंकि सफेद हाथियों की बातों में वे बह नहीं सकते ।।" 14

" प्रेमचन्द की परंपरा को विकसित एवं संवर्द्धित करने वाले कलाकारों में शिवांशु श्रीवास्तव का स्थान अग्रिम पंक्ति में

आता है । "लोहे के पंख" (1958) के बाद इस द्वितीय कृति (नदी फिर बह चली) में लेखक का प्रगतिवादी दृष्टिकोण और भी उभरकर आया है । जहां "लोहे के पंख" का मगरूआ वर्ग-संघर्ष से उबकर-थककर रिक्शा चलाकर पेट पालने के अतिरिक्त दूसरा निरापद रास्ता नहीं देख पाता, वहां प्रस्तुत उपन्यास की नायिका परवतिया अंतिम सांसों तक परिस्थितियों से संघर्ष ही नहीं करती, वरन् एक नयी चेतना का, नव जागरण का शंख फूंक देती है ।" [15]

परवतिया का समग्र जीवन भीषण संघर्ष की एक अविरत यात्रा है । शैशवावस्था में मां की मृत्यु, पहले मामी और बाद में सौतेली मां का त्रास, बाप साधु मेहतो की विवशता जैसी त्रासद स्थितियों से गुजरते हुए वह किसी तरह यौवन की दहलीज तक पहुंचती है, तब जगलाल से उसकी शादी हो जाती है । जगलाल पटना में हम्माल का काम करता है । परवतिया के कुछ दिन तो रंगीन सपनों में बीत जाते हैं, पर फिर उसके जीवन की त्रासदी शुरू होती है । शराब संगत में पड़कर वह अपनी सारी कमाई शराब-कबाब में फूंक देता है । सस्ती वेश्याओं के कोठरियों पर भी जाता है । यहां पुआल का बिछौना और ईंटों के तकिये होते हैं । वेश्याओं के यथार्थ परिवेश का जो चित्रण किया है, उसके सन्दर्भ में औपन्यासिक आलोचना के विख्यात आलोचक डा. त्रिभुवनसिंह का कहना है कि इससे दोस्त्योवस्की की औपन्यासिक कृतियों की याद ताजा हो जाती है ।[16]

यहां एक बात ध्यातव्य है कि परवतिया एक कहार जाति की स्त्री है । जगलाल को सुधारने की वह बहुत कोशिश करती है, पर वह राह पर आवे उसके पूर्व ही एक दुर्घटना

घटित होती है जिससे परधतिया का जीवन और भी यातनामय हो जाता है । वेश्या की एक कोठरी पर शराब के नशे में धुत होकर जगलाल अपने के एक साथी के पेट में छुरा भोंक देता है । उसे जेल हो जाती है । परधतिया पहले अपने मैके जाती है । उसके पिता का निधन हो चुका है, अतः सौतेली माँ उसे वहाँ टिकने नहीं देती । अपने दो बच्चों को लेकर दर-बदर की ठोकरें खाते हुए वह अपनी ससुराल के गाँव सुरागनपुर जाती है । वहाँ लोगों का चौका-बरतन करके वह अपने दो बच्चों को पालती है । गाँव के नवयुवक दल के से भी वह जुड़ती है । अपने पति के हिस्से की जो थोड़ी-सी जमीन थी उसे वह गाँव के स्कूल के लिए दे देती है, क्योंकि उसे बताया गया है कि स्कूल के नाम के आगे जगलाल का नाम लगाया जायगा । नवयुवकों के काम के लिए वह अपना "मंगटीका" भी दान में दे देती है । युवक-दल के नेता नन्हे से वह कहती है : " बबुआ के बापू के नाम पर मैं मन में सेंदुर पहनती हूँ, जेवर और माँग में नहीं । "17

अकाल के कारण गाँव के गरीब लोग सरकारी तकावी की रकम अदा नहीं कर पाये, फलतः जनार्दनराय जैसे नेताओं के उकसाने पर सरकार उन लोगों पर अमानुषी व्यवहार करती है, जिस पर नवयुवक दल के नेता पटना विधानसभा के सामने धरने का कार्यक्रम देते हैं । पुलिस द्वारा लाठीचार्ज होता है । उसमें परधतिया का सिर फूट जाता है । जगलाल उसे ढूंढते हुए वहाँ पहुँचता है, पर परधतिया की मृत्यु हो जाती है । इस प्रकार प्रस्तुत उपन्यास को हम प्रेमचन्द-परंपरा का एक सफल उपन्यास मान सकते हैं । इस उपन्यास के संदर्भ में जैनेन्द्रजी का कहना है — " भारतीय किसान और मजदूर जीवन का जैसा सफल और विश्वसनीय चित्रण

शिवांशु श्रीवास्तव अपने उपन्यासों में करते हैं, वैसा अन्यत्र देखने को नहीं मिलता। • 18

जो जीवट और जुझारूपन हमें परवतिया में प्राप्त होता है, ठीक उसी प्रकार का जीवट और जुझारूपन हमें भगवतीचरण उपाध्याय कृत "एक टुकड़ा इतिहास" की नायिका चमुली (चन्दी-देवी) में मिलता है। चमुली एक डोम (चमार) जाति की कन्या है। इस उपन्यास के द्वारा लेखक ने कुमाऊँ प्रदेश की पिछड़ी जातियों की समस्या पर प्रकाश डाला है। इसमें दलित जातियों के प्रति समाज के रूढ़िवादी तबके की जो अमानवीयता है, उसे यथार्थतः उकेरा गया है। चमुली के रूप-सौन्दर्य से आकर्षित होकर कान्तमणि उससे विवाह करता है। कान्तमणि एक ब्राह्मण युवक है। अतः उसका सामाजिक बहिष्कार होता है। इससे कान्तमणि टूट जाता है। कुछेक हजार दण्ड देकर वह चमुली तथा अपने पुत्र रतन को छोड़कर पुनः विलायत में आ जाता है। उसके बाद चमुली को अनेक यातनाओं से गुजरना पड़ता है। अन्ततः वह अल्मोड़े के आश्रम में हरिजनोद्धार के कार्य में लग जाती है। वह समाज-सेवा का कार्य करते-करते "चमुली" से "चन्दीदेवी" हो जाती है। कांग्रेसी उम्मीदवार के खिलाफ एम.एल.ए. का चुनाव भी लड़ती है, पर केवल कुछ वोटों से हार जाती है। अपनी दलित-गुलामियों को बचाने के लिए "समता-आश्रम" की स्थापना करती है, जिसे कुछ स्थापित दिलवाले लोग आग लगवा देते हैं। चन्दीदेवी उनके सामने अदालत जाती है और अपराधियों को दण्डित भी करवाती है। मुसरी और पेड़ से गिरने के कारण कान्तमणि की हड्डी टूट जाती है। कोई उसकी सुध में नहीं था। चन्दीदेवी वहाँ जाकर उसे बरेली के अस्पताल में भर्ती करवाती है और उसकी खूब सेवा-सुश्रूषा करती है। कान्त-मणि को अपने किए पर पश्चात्ताप होता है और वह पत्नी

तथा बेटे रतन को अपना लेता है । वह अपनी जमीन-जायदाद भी उनके नाम कर देता है । इस पर बिरादरी तथा गांववालों की बड़ी बुरी प्रतिक्रिया सामने आती है । कान्तमणि की मृत्यु के समय उसकी अंतिम क्रिया में वे लोग शामिल नहीं होते हैं । चन्दीदेवी के आश्रम का नाम अब "श्रीकान्त-समता आश्रम" हो जाता है । चन्दीदेवी की मृत्यु के समय रतन के जो उद्गार हैं वे बड़े मार्मिक हैं —

" इजा ! हम तो आज भी हम ही रह गए हैं । आज भी वे अछूत हैं । फिर तुमने बेकारबाह अपनी जान क्यों दे दी । इजा ! तू नहीं बदल पायी इन लोगों को । मगर वे बदलेंगे इजा ! समय उन्हें बदलने को मजबूर कर देगा । सिर्फ तू नहीं देख पायेगी इजा , सिर्फ तू .... " 19

उदयराज सिंह द्वारा प्रणीत उपन्यास " अंधेरे के खिलाफ " भी प्रेमचन्द परंपरा का उपन्यास है । उसमें बदलते गांवों की पहचान मिलती है । सन् ~~१९४९~~ 1947 के बाद असंदिग्धतया सामाजिक, आर्थिक , राजनीतिक , संस्थानिक परिवर्तनों का एक सम्पा क्रम तेज चलता है ; किन्तु ग्रामीण गरीब लोगों की स्थिति में कोई खास गुणात्मक सुधार नहीं दिखता है । इस उपन्यास के द्वारा लेखक को भारतीय समाज का जो साक्षात्कार होता है , वह कुछ इस प्रकार है — " युगों तक अंधेरी सुरंग में भटकने के बाद भारतीय इतिहास को आलोक का पहला स्पर्श ! लेकिन इतने बाद ही एक-के-बाद एक मोड़ों का अंतहीन सिलसिला अतीत की विसंगतियों और वर्तमान की विडंबनाओं के बीच पिसती हुई निरीह जनता ! विसंगतियों और विडंबनाओं का यह द्वन्द्व नगरों में उतना प्रखर नहीं हुआ , जितना गांवों में । बिजली, ब्लाक आफिस , अस्पताल , रेडियो और सड़कों ने गांव को

एक ओर नगरों तथा आधुनिक सभ्यता से जोड़ा , तो दूसरी ओर स्वयं से भी दूर किया । इतिहास के पन्ने बदले , लेकिन किस्से वही रहे । " 20

अस्तु , समाजवादी-यथार्थवादी दृष्टि तथा वस्तुनिष्ठता की जो प्रेमचन्दीय परंपरा है , वह समकालीन उपन्यास साहित्य में भी किसी-न-किसी रूप में प्रतिबिंबित हुई है ।

प्रेमचन्दजी की दूरदर्शिता :

प्रेमचन्दजी का निधन सन् 1936 में हो गया था और उसके ग्यारह वर्ष बाद आजादी हमें मिली थी , किन्तु आजादी के बाद सत्ता के सूत्र किन लोगों के हाथों में जायेंगे यह प्रेमचन्द की पैनी दूरदर्शी दृष्टि ने बहुत पहले ही देख लिया था । और जो प्रेमचन्द "प्रेमाश्रम" , "रंगभूमि" तथा गोदान आदि में देख चुके थे उसकी प्रतीति हमें समकालीन उपन्यासों में होती है । सर्वप्रथम उसका गहरा अहसास हमें रेणु के "मैला आँचल " में होता है । इस उपन्यास में हम यह देखते हैं कि आजादी की लड़ाई में अंग्रेजों की लाठियाँ खाने वाले , अपनी नौकरियाँ छोड़ने वाले , त्याग और बलिदान की मिसाल कायम करने वाले लोग तो एक तरफ रह जाते हैं , और उनका स्थान ग्रहण करते हैं वे लोग जो कभी अंग्रेजों के पक्षकार थे । ठेकेदार , जमींदार , व्यापारी और उद्योगपति , ये ही वे लोग हैं । यहाँ एक बात ध्यातव्य है कि जो प्रथम श्रेणी के बड़े नेता थे , उनके बारे में हम नहीं कह रहे हैं । किन्तु नीचे से ऊपर तक पूत नेताओं की जो एक श्रृंखला-सी बननी चाहिए थी , वह नहीं बन पायी । आजादी के दो-तीन वर्षों में ही रेणुजी ने यह देख लिया था किस प्रकार स्वार्थी

भ्रष्ट , लंपट और सत्तालोलुप ~~xxxxxx~~ नेताओं ने वासदेव , बावनदास , कालीचरण जैसे निष्कपट और सीधे-सरल स्थानिक नेताओं को पीछे ठेल दिया । राजनीति में ऐसे भ्रष्ट लोग आ गये उसकी मनोव्यथा हमें बावनदास में मिलती है । वह कहता है कि पहले तो भारतमाता विदेशियों द्वारा पादाक्रान्त की रही थी और अब उसके अपने बेटे ही उसे रौंद रहे हैं और उसे क्षत-विक्षत कर ~~xxxxxx~~ लहूलुहान कर रहे हैं । आज भी भारतमाता " चार-बेचार रो रही है । " 21

बावनदास जैसे सिद्धान्तनिष्ठ व्यक्ति की नृशंस हत्या करवा दी जाती है । गांधी की हत्या के साथ यह घटना खूब मेल खाती है । मृत्यु के बाद ~~xxxxxx~~ उसे "पेथरिया पीर" बना दिया जाता है । यह बहुत बड़ा व्यंग्य है । बावनदास और गांधी जैसे लोग देवता तो बन सकते हैं , पीर-औलिया और महात्मा तो बन सकते हैं । स्वतंत्रता के पूर्व जनता को भरमाने के लिए ऐसे लोगों की आवश्यकता थी , अब तो स्वतंत्रता की गाय को दोहना है । उसमें ऐसे लोगों की क्या आवश्यकता ? ऐसे लोग तो मंदिरों में या पोथियों में ही ठीक हैं ।

किसी जमाने के अंग्रेजों के पिट्ठू ऐसे तहसीलदार साहब जैसे लोग , दारू का पीठा चलाने वाले लोग , जंगलों और चाय-बागान के ठेकेदार , गांवों के बड़े जमींदार , ये सब लोग कांग्रेस पार्टी में महत्वपूर्ण स्थान पा जाते हैं , क्योंकि उनके पास दौलत की ताकत है , ये "चवन्निया" मेंबर थोड़े ही हैं ।

सुमरितदास "बेकार" के रूप में लेखक ने आजादी के बाद पनपने वाली एक ऊपर बिरादरी का संकेत दिया है । "आयाराम-गयाराम" जैसे गुलांटबाज , गुंडागर्दी , चमचों की बिरादरी ।

वर्गों के इस व्यापार और कारोबार ने देश को उत्तम कर दिया । आजादी के बाद जिस स्थिति का निर्माण हुआ है उसकी मनोव्यथा निम्न-पंक्तियों में दर्ज है —

" पन्द्रह अगस्त उन्नीसौ सैंतालीस
वह मध्यबिन्दु है हमारे देशकी स्वाधीनता के इतिहास का
जहाँ से हमने पलटना सीखा
जहाँ से हमने उलटना सीखा
जहाँ से हमने मुड़ना सीखा
सिद्धान्तों से ,
सिद्धान्तों की ओल को ओढ़कर ।। " 22

इन काव्य-पंक्तियों को हम "मैला आँचल " में चरितार्थ होते हुए देख सकते हैं । रेणुजी के औपन्यासिक साहित्य में जहाँ राजनीतिक परिदृश्य हैं , वहाँ हम यह भी देखते हैं कि उनमें एक प्रकार की तटस्थता होती है । वहाँ वे किसीके पक्षकार नहीं होते । यही बात "मैला आँचल" में भी दृष्टिगत होती है । डा. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय का प्रस्तुत मत इस संदर्भ में उद्धरणीय रहेगा —

" राजनीतिक उपन्यासों की सबसे बड़ी मुसीबत , विशेषतः हिन्दी या अन्य भारतीय भाषाओं में यह है कि लेखक अपने को तटस्थ नहीं रख पाता और किसी-न-किसी मतवाद का शिकार बन जाता है और किसी राजनीतिक विचारधारा का पक्षधर । (लेकिन) रेणु की विशेषता यह रही है कि "मैला आँचल" में उन्होंने सभी राजनीतिक विचारधाराओं का बड़ा संतुलित चित्रण किया है । न किसीको ऊपर उठाने की कोशिश की है न किसीको सायास नीचे गिराने की । वस्तुतः जिस घुटन भरी जिन्दगी की कशमकश उन्होंने

चित्रित की है, उसमें यह राजनीतिक चित्रण इतना घुलमिल गया है कि वह अलग से देखा ही नहीं जा सकता।"[23]

भगवतीचरण वर्मा कृत "प्रश्न और मरीचिका" में यह निर्देशित किया गया है कि आजादी के बाद राजनीति में जो आमूल परिवर्तन आना चाहिए, वह नहीं आया। आजादी महज "ट्रान्सफर आफ पावर" बनकर रह गयी। शासकीय मशीनरी में कोई बदलाव नहीं आया। अंग्रेजों के जमाने में जो आई.सी.एस. अफसर राष्ट्रभक्तों के साथ बहुत बुरी तरह से पेश आते थे, अब उन्हीं से कहा जा रहा है —

"मिस्टर उपाध्याय ! हमें देश का निर्माण करना है। यह हमारा सौभाग्य है कि हमें देवतास्वरूप पंडित नेहरू का शासन मिला है — पंडित जवाहरलाल नेहरू महात्मा गांधी के मानस-पुत्र हैं। महात्मा गांधी ने जिस साधना और तपस्या का मार्ग दिखलाया है उस पर चलकर हम विश्व के अन्य राष्ट्रों का नेतृत्व प्राप्त कर सकते हैं। इस ओर मैं आप अधिकारियों के सक्रिय सहयोग की अपेक्षा करता हूँ।"[24]

इसी उपन्यास में ही बताया गया है कि राजनीति एक व्यवसाय का रूप ले रही है। उपन्यास का एक पात्र रामराज इस संदर्भ में ठीक ही कहता है —

"भारतवर्ष स्वतंत्र क्या हुआ वकालत का पेशा ही ठप हो गया है। जमींदारी तो जमींदारी-उन्मूलन में निकल गई। सत्तर बीघे खेती बची है ... लेकिन खेती में आजकल कुछ रखा नहीं है। उल्टे घर से देना पड़ता है। तो सिवा नेतागिरी के और किसी दूसरे पेशे में फायदा नहीं है।"[25]

और राजनीति में कैसे लोग आये ? निम्न पंक्तियों में उसका व्यंग्यात्मक खाका खींचा गया है —

"गांधी तेरा भारत क्या था ? नेहरू तेरा भारत क्या है ?
राजनीति में अब तो प्यारो, आय गये हैं लल्ला लल्ला ! " 26

तथा

" जमीं बेच देंगे , जहाँ बेच देंगे , ये मूर्खों तन का
वस्त्र बेच देंगे ;
कलम के सिपाही अगर सुप रहे तो ,
वतन के ये नेता वतन बेच देंगे !" 27

इसी उपन्यास के मि. कमराज भारत सरकार में सेक्रेटरियेट में उच्च पद पर आसीन है । उनका भतीजा राजनीति में जाता है । इस पर वे कहते हैं — " अंग्रेजी में कहावत है कि मुर्ख्यों और भंगेड़ों के लिए ही यह राजनीति है । तो चलो हमारे घर में भी एक विधायक बन रहा है ! " 28

"मैला आँचल" की भाँति यहाँ भी हम देखते हैं कि स्वाधीनता की लड़ाई में अग्रिम पंक्ति में रहने वाले शिवलोचन शर्मा और मुहम्मद शफी जैसे लोग उपेक्षित हो रहे हैं और उनके स्थान पर विद्यानाथ, रमा आण्टी और मुस्तफा जाफिर जैसे लोग राजनीति में अग्रिमता प्राप्त कर रहे हैं । विद्यानाथ एक मुखौटा-भंगेड़ा टाईप का व्यक्ति है । रमा आण्टी स्वतंत्रता सेनानी की चरित्रहीन पत्नी है । उपन्यास में एक स्थान पर बताया गया है कि पैसों के लिए वह रामकुमार मवाड़िया नामक एक बिल्डरमैन के साथ सोती है । मुहम्मद शफी एक सच्चे गांधीवादी कांग्रेसी हैं और मुस्तफा जाफिर एक मुस्लिम-लीगी नेता है । रमा आण्टी संसद का चुनाव जीत जाती है । शिवलोचन शर्मा पराजित होकर पक्षाघात के शिकार हो जाते हैं । चुनाव सिद्धान्तों पर न लड़े जाकर रमया (चाँदी का जूता) ,

अपवित्र (असली जूता) , शराब , झूठे वादों और झूठे नारों पर लड़े जाते हैं । [29]

स्वाधीनता की लड़ाई में मुस्लीम लीग के नेताओं ने पग-पग पर अनेक अंतराय खड़े किये थे । लोगों की धार्मिक भावनाओं को भड़काने का काम वे करते थे । पाकिस्तान के बनने में उनका ही सबसे बड़ा योगदान है । किन्तु आजादी के बाद अपने संकीर्ण स्वार्थों के लिए कांग्रेस उसी मुस्लिम लीग से समझौता करती है । "प्रश्न और मरीचिका " के मुस्तफा कामिल ऐसे ही एक लीगी नेता है । उनको दूसरे कांग्रेसी मुसलमानों से भी ज्यादा महत्व दिया जाता है । मुहम्मद अली जैसे राष्ट्रवादी मुसलमान को मुस्तफा कामिल के मातहत में काम करने के लिए कहा जाता है । इस उपन्यास में हम पाते हैं कि चुनाव विशुद्ध लोकतांत्रिक तरीकों से नहीं लड़े जाते । उसमें सगावाद , भाई-भतीजावाद , जातिवाद , कौमवाद , धर्म , सम्प्रदाय , रुपया-पैसा , शराब , गुण्डे आदि सभी का उपयोग किया जाता है । ऐसा प्रतीत होता है कि आजादी के उपरांत नेताओं की बिरादरी में मनुष्य नामक संज्ञा का ही लोप हो गया है । अब जो नेता आ रहे हैं वे हैं — मस्तानंद (पंचानन नामक चोर को चुनाव जीतने के लिए स्वामी मस्तानंद बनाया गया था ।) , गंजा चौधरी , हरिगोस्वामी (प्रेम अपवित्र नदी - लक्ष्मीनारायण लाल) ; विद्यानाथ , मुस्तफा कामिल , रूपा आण्टी (प्रश्न और मरीचिका) ; शनीचर , बैजवी , बद्री पहलवान , रामाधीन भिखमखेड़वी (राग दरबारी) ; मोतीलाल , शिवलाल , श्यामदेव (सूखता हुआ तालाब) ; परसराम (आधा गाँव) । इन्हीं में से विकसित होती हैं हमारी राजनीतिक पार्टियाँ , हमारे नये नेता , हमारे अधिकारी, पुलिस और व्यापारी । अतः प्रेमचन्द ने जो बरसों पहले अपने उपन्यासों में संकेतित किया था , वह सामने आ रहा है ।

नारी-विमर्श के सन्दर्भ में समकालीन उपन्यास :

प्रेमचन्दजी ने अपने अनेक उपन्यासों में नारी-जीवन की त्रासद स्थितियों का हृदयस्पर्शी चित्रण किया है । "सेवासदन", "वरदान", "निर्मला" प्रभृति उपन्यासों में दहेज प्रथा, अनमेल विवाह, वेश्या समस्या आदि को चित्रित किया गया है । प्रेमचन्द के इतने वर्षों बाद भी नारी-जीवन की कई समस्याएँ अनसुलझी ही रह गई हैं । शिक्षा के प्रचार-प्रसार से नारियों में कुछ चेतना आई है, किन्तु यह चेतना नगर-जीवन के स्तर पर कतिपय शिक्षित महिलाओं तक सीमित है । दूर-दराज के ग्रामीण क्षेत्र आज भी अछूते हैं । बल्कि कुछ क्षेत्रों में तो पीछे कदम हो रहे हैं । पुनः रूढ़िवादी-सम्प्रदायवादी तत्व उभर रहे हैं । संस्कृति और राष्ट्रीय-अस्मिता के नाम पर वे पुनः सामंतवादी मूल्यों को प्रोत्साहित कर रहे हैं । कितने-कितने प्रयत्नों के बाद राजा राममोहनराय जैसे क्रांति के अग्रदूत ने "सतीप्रथा" को दूर करवाया था, किन्तु राजस्थान में अब पुनः इस बर्बर, असामाजिक, अमानुषिक प्रथा को गौरवान्वित करने का प्रयत्न हो रहा है । राजकुंवरबा का किस्सा प्रसिद्ध है । सुना है, अब तो वहाँ मंदिर भी हो गया है ।

संयुक्ता पाणिग्रही जैसी गण्यमान्य महिला मंदिरों की देवदासी प्रथा का समर्थन कर रही है । संयुक्ताजी यह भूल रही हैं कि उनके पास तो अंतरराष्ट्रीय ख्याति है । उनके साथ वह सब नहीं हो सकता जो एक गरीब परिवार की देवदासी के साथ हो सकता है । धर्म के नाम पर स्त्रियों का शोषण — लैंगिक शोषण पहले भी होता था, और आज भी हो रहा है ।

दहेज-प्रथा भी कम होने के बदले बढ़ रही है। उस पर कानूनी प्रतिबंध है। दहेज लेना और देना अपराध माना जाता है, पर बावजूद इसके दहेज बढ़ रहा है। दहेज-हत्याएँ बढ़ रही हैं। बल्कि एक और परिमाण भी उसमें जुड़ने लगा है। पहले पिछड़ी जातियों में दहेज नहीं था, बल्कि उसका विलोम था, अर्थात् लड़के वाले लड़की वालों को पैसे देते थे। परन्तु आजादी के बाद आरक्षण इत्यादि की सुविधाओं से उनमें भी जो एक "क्रिमी तबका" उभरकर आया है, वे अब सवर्णों की तरह दहेज की माँग करने लगे हैं।

नारी-जीवन प्रेमचन्द के यहाँ भी त्रासदी था, और आजादी के इतने वर्षों बाद भी है। श्री. अरविन्द जैन ने इसका बड़ा लोमहर्षक चित्रण अपने ग्रन्थ "औरत होने की सज़ा" में किया है। यथा —

"मुझसे ब्याह किया है तो पत्नी होने का धर्म निभाओ, आओ, मेरी सम्पत्ति के वारिसों को जन्म दो, पुत्र जन्मोगी तो भाग्यशाली और लक्ष्मी कहलाओगी, उस पर चढ़कर ननद थाली बजायेंगी और सारे शहर में लड्डू बाँटे जायेंगे — पर याद रखना बेटियाँ जन्मीं तो कुलक्षणी और अभागी मानी जाओगी क्योंकि "लौंडियाँ होने की खुशी सिर्फ वेश्याओं के यहाँ मनायी जाती है।" मैं तो पैदा होते ही गला घोंट दूँगा, गड्ढे में दबा दूँगा या गंगा में प्रवाहित कर दूँगा। वैसे अब तो बच्चे होने से पहले ही "एमनियोसेंटासिस" टेस्ट करवा लो। लड़की है तो गर्भपात, सारे झंझटों से ही मुक्ति। बेटा या बेटी कुछ भी नहीं हुआ तो बांझ होने के जुर्म में तानों के तीरों से जख्मी होकर मरना या किसी कुएँ बावड़ी .... मेरे लिए वारिस जनने वाली और बहुत मिल जायेंगी। अपना बेटा नहीं हुआ तो कोई बात नहीं।

मैं अपने किसी भाई का बेटा गोद ले लूंगा , लेकिन मेरे जीते जी तुम किसीके बच्चे को गोद नहीं ले सकती । गोद लेने के कानून में मैंने ऐसा कोई प्रावधान बनाया ही नहीं है । ‖ ध्यान रहे यहां "मैं" पुरुषसत्ताक समाज के प्रतीक रूप में है । ‖ तुम गोद तभी ले सकती हो जब मुझसे तलाक ले लो या मैं पागल या संन्यासी हो जाऊं । [30] बस यों मैं होने से रहा । मैं चाहूंगा तो गोद लूंगा , नहीं चाहूंगा तो नहीं लूंगा — तुम्हारी तो सिर्फ सहमति ही चाहिए न । [31] मैं अगर गोद न लेना चाहूं तो तुम मेरा क्या कर लोगी ? जमीन , जायदाद वसीयत करके दान कर दूंगा , तुम फिरना हाथ में कटोरा लिए और मैं देखता हूं कि कौन करता है तुम्हारी बुढ़ापे में देखभाल और मरने पर अंतिम दाह-संस्कार , कौन बहाता है तुम्हारे फूल गंगा में और कौन मनाता है हर साल तुम्हारा श्राद्ध ? .... अगर बेटी पैदा भी हो गयी तो न उसे अच्छा खाने को दूंगा और न अच्छा पहनने को । अच्छा खाने-पहनने का हक सिर्फ मेरे बेटों को हासिल है । बेटी घर के बर्तन मांजेगी , झाड़े बुहारे धोएगी , झाड़ू-पोंछा करेगी तो खाने को मिल ही जायेगा , नहीं तो मरेगी भूखी — मेरा क्या लेगी ? बेटों का तो काम ही है पतंग उड़ाना , क्रिकेट खेलना, खाना , सोना , पढ़ना और ऐश करना । .... होश संभालने से पहले ही छोटी उम्र में ही बेटी की शादी कर दूंगा । नहीं तो बड़ी होकर न जाने कहां नाक कटवा देगी ; क्या बिगाड़ लेगा बाल-विवाह अधिनियम मेरा ? [32] तंग करेगी तो किसी मंदिर में देवदासी , आचार्य या सुंदरी के चरणों में समर्पित करके "साध्वी" बनवा दूंगा । [33×] ‖ द्रष्टव्य : लेख : " जैन धर्म और बालदीक्षा " : इन्द्रदेव : नयी सदी : मई-1988 , पृ.4 ; "धर्मगुरुओं की हैवानियत का दूसरा नाम है बालदीक्षा " : चौथी दुनिया - 1-7 जनवरी , 1989 , पृ. 7 तथा " कम उम्र बच्चियों को जबरन बनाया जाता है साध्वी " : दैनिक- जिनवाणी , 10 मई

: 1987 ! छोड़ना चाहेगी तो शहर क्या देश भर में बदनाम करूंगा कि "पतवलन" थी , प्रेमी के साथ भाग गयी और धर्म की जय-जयकार करूंगा । [33] पढ़ने-लिखने दूंगा नहीं — स्कूल , कालेज और विश्वविद्यालय के सपने देखना ही बेकार है । [34] " 35

प्रेमचन्दोत्तरकाल में तुरन्त बाद जैनेन्द्र का "त्यागपत्र" उपन्यास मिलता है , जिसे नारी-जीवन की महान त्रासदी कह सकते हैं । अनमेल विवाह के कारण एक सीधी-सादी साध्वी स्त्री का जीवन नरकतुल्य हो जाता है । हमारे यहाँ कहा तो जाता है कि "सत्यम् वद " , किन्तु सत्य बोलने वालों के साथ क्या सुलूक होता है , इसे हम इस उपन्यास में देख सकते हैं । डा. देवराज उपाध्याय प्रस्तुत उपन्यास को मानव-आत्मा की त्रासदी मानते हैं । वे कहते हैं — " पर परिस्थिति के चक्कर में पड़कर , एक सती-साध्वी स्त्री का अनमिल वैश्या-जीवन की भयंकर यंत्रणा को स्वीकृत करने के लिए बाध्य होना — यह आत्मा की ट्रेजेडी है । टामस हार्डी के उपन्यासों का एक प्रसिद्ध आलोचक "टेस" के बारे में कहता है , " To be cursed to death by lead or grief is nothing for a 'pure woman' to be cursed into impurity then is a soul's tragedy that has no equal in horror" " ये पंक्तियाँ शत-प्रतिशत गुपाल के संबंध में लागू हो सकती है । संक्षेप "त्यागपत्र" मानव-आत्मा की एक बहुत बड़ी ट्रेजेडी है । " 36

डा. रामदरश मिश्र के उपन्यास "रात का सफर " का नायक दिनेश एक नर्स को चाहता है और वह किसी से विवाह नहीं करना चाहता , परन्तु उसके पिता दहेज की लालच में उसका विवाह मैजिस्ट्रेट की लड़की शशु से करते हैं । कितने

अरमानों और सपनों को लेकर शशु परिशुद्ध आती है, परन्तु उसके सारे ख्वाब खाक में मिल जाते हैं। उसका पति दिनेश सुहागरात को भी उसके पास नहीं आता। शशु को तो पूरा घर ही रहस्यमय लगता है। ननदें उसे घेरकर सोती हैं। श्वशुर सबकुछ जानते हुए भी अनजान बनते हैं। इस उपन्यास के संदर्भ में डा, अंजलि तिवारी अपनी सही टिप्पणी देती है —

" नारी पुरुषों के लिए खिलौना रही है। उसकी इच्छा हो तो खेले, न इच्छा हो तो उसे पड़ी रहने दे, इच्छा हो तो उसे प्यार का दान दे दे, न इच्छा हो तो मौन रहे या दुत्कारता रहे। उसकी अस्मिता का सम्मान कभी नहीं किया गया। आधुनिक चेतना का दावा करने वाले आज के युग में भी यह क्रम टूटा नहीं है। बल्कि अधिक उलझ गया है। पढ़ा-लिखा सुशील-सा दीखने वाला दिनेश एक नर्स से उलझा हुआ है तो भी शशु से शादी कर लेता है और शादी करने के बाद उसके साथ पल भर का भी संबंध नहीं बना पाता। उसने क्यों शादी की ? शादी उसकी इच्छा के विपरीत बाप की मर्जी से हुई यह तर्क उसे बचा नहीं सकता। उसकी सारी पढ़ाई-लिखाई मानवीय चेतना-रहित व्यर्थता का जाल भर है। आधुनिक शिक्षा प्राप्त कर न जाने कितने युवक आज नारी के सन्दर्भ में सही निर्णय ले पाने में असमर्थ दिखाई पड़ते हैं। इसलिए वे लड़की के चुनाव, दहेज के प्रश्न और स्त्री को दी जाती हुई यातना में या तो शरीक हो जाते हैं या विरोध करने की इच्छा रहते हुए भी विरोध नहीं कर पाते, बल्कि दर्शक की तरह मूक बने खड़े रहते हैं। और उनकी इस चारित्रिकता के कारण स्त्री का जीवन आनंद का नहीं, किसी तरह तिल-तिल कर पहाड़ से कठोर दिन काटने के क्रम का पर्याय बन जाता है। शशु का जीवन इसके सिवा और क्या है ? " 37

xxxxxx कृष्णा अग्निहोत्री द्वारा प्रणीत उपन्यास " बात एक औरत की " भी नारी-विमर्श को उकेरने वाला उपन्यास है । आधुनिक स्त्री-पुरुष , विशेषतः पति-पत्नी के संबंधों और अन्तर्द्वन्द्वों को लेकर यह उपन्यास लिखा गया है । आधुनिक शिक्षित पति की अधकचरी अपरिपक्व सोच इस उपन्यास के केन्द्र में है । उपन्यास का नायक संजय अपनी पत्नी वनु को एक तरफ तो परंपरावादी भारतीय नारी के रूप में देखना चाहता है और दूसरी तरफ यह भी चाहता है कि वह होटलों , क्लबों , तथा-सोसायटियों तथा मित्रों में एक आधुनिक फैशनेबल नारी के रूप में पेश आवें । यह हँसना और लोट फाँकना वाली बात है । संजय स्वयं व्यभिचार , अनाचार और पापाचार में डूबा रहता है ; किन्तु चाहता है कि उसकी पत्नी सीता-सावित्री सी पतिव्रता और आज्ञाकारिणी बनी रहे । वह दूसरे xx दूसरे पुरुषों से हँसे-बोले यह भी उसे गवारा नहीं है । वनु की तरह प्रस्तुत उपन्यास में प्रीति , रजनी , आनंदी , उमा , शुभा , श्यामा , शालो , रूपमा आदि कई आधुनिक पत्नियों का चित्रण इस उपन्यास में हुआ है । उन्हें आधुनिक जीवन का यह द्वन्द्व और दोराहापन नहीं व्यापता ; क्योंकि "सोच" और "मानसिक उहापोह " को दूर किनार कर वे इस झूठी और नाटकीय दुनिया का एक हिस्सा बन जाती है । वनु यह नहीं कर पाती । यही उसकी त्रासदी है ।

इस उपन्यास के संदर्भ में डा. विवेकीराय कहते हैं — " नारी-जीवन की कितनी बड़ी विवशता है कि वह चाहकर भी किसीको अपना प्यार नहीं दे पाती , किसीका प्यार नहीं ले पाती । पुरुष के लिए ऐसी कोई व्यवस्था नहीं । वह तो कई घाटों का पानी पीकर भी शुद्ध बना रहता है । नारी एक तिल भी गलत राह चली कि अनर्थ हो गया । यही नहीं , दुनिया

की सारी बुराइयाँ , सारे कलंक , सारे दोष नारी के माथे मढ़ते हैं । नारी की यह विवशता उस समय और भी उग्र रूप धारण कर लेती है , जब विवाह के बाद भी पति पत्नी से परितृप्त नहीं होता और लोभी भँवरे की भाँति अन्य कलियों और पुष्पों का रस लेता चलता है ।" 38

आज आधुनिकता को ~~[illegible]~~ छिछली बना दिया गया है । आधुनिकता का संबंध वैज्ञानिक निरपेक्ष सोच से है , किन्तु उसे केवल बाह्य फैशनेबल जीवन तक सीमित कर दिया गया है । ड्रिंक करना , क्लबों में जाना , दूसरे की पत्नियों से विश्वासघाती करना यही आधुनिकता का लक्षण रह गया है । उपन्यास का नायक संजय डिप्टी एस.पी. है , अतः अपने पद के स्टेटस का लाभ उठाते हुए वह अनेक स्त्रियों को अपने हवस का शिकार बनाता है ; किन्तु स्वयं अपनी पत्नी के बारे में बहुत ही "पजेसिव" है । इस स्वच्छंदता के पीछे ही उसकी नौकरी छूटती है और वह पुनः पत्नी की ओर उस समय लौटता है जब वह चारों तरफ से निराश होकर उसे तलाक देने का पक्का मन बना लेती है ।

पुरुष-जाति से मुक्ति पाने के लिए वह आत्मनिर्भर होना चाहती है । अतः बी.ए. , एम.ए. , सिलाई , टाइप , पेंटिंग आदि सभी करती है और कई स्थानों पर नौकरी के लिए भी यत्न करती है , किन्तु उसे कहीं सभी जगह काले ही नज़र आते हैं । ~~प्रतु~~ प्रभु का यह अहसास सत्य प्रतीत होता है कि "स्वार्थ के अतिरिक्त रिश्ता कुछ भी नहीं । सेक्स-ही-सेक्स को लेकर दुनिया विक्षिप्त है ।" 39

उपन्यास का एक पात्र मेहता प्रभु को कहता है कि विवाह सुखी न हो तो पार्टनर बदलने में कोई बुराई नहीं है । एक बार तो वह यहाँ तक कह देता है कि वह उसे प्यार करता है । उसके

प्रत्युत्तर में कनु कहती है — " मैं प्यार पाना चाहती हूँ मि. महेश ! बहुत चाहती हूँ कि प्यार पा लूँ , परन्तु मि. संजय से प्यार चाहती हूँ । " 40

अर्थात् समस्या यहाँ भी वही है — आत्मा की त्रासदी । आत्मा और जमीर पर चलने वाला व्यक्ति यहाँ दुःखी होगा । जो सत्य और ईमानदारी पर चलना चाहता है , उसकी यहाँ गुजर नहीं है ।

प्रेमचन्द के उपन्यासों में नारी-शोषण के विभिन्न रूप मिलते हैं । प्रेमचन्द के इतने वर्षों बाद भी , स्थितियों में कहीं-कहीं बाह्य परिवर्तन आए हैं , परन्तु स्त्री के प्रति की दृष्टि में कोई खास बदलाव नहीं आया है । बल्कि स्वतंत्रता-पूर्व के आदर्शों और लक्ष्यों के न रहने पर वह और भी पंकिल और वासनात्मक हो गई है ।

रजनी पनिकर के उपन्यास कि× " दो लड़कियाँ " की रंजना को उसके उदाहरण के रूप में देख सकते हैं । रंजना एम.ए. पास है , किन्तु उसे कोई ढंग की नौकरी नहीं मिलती । शादी-ब्याह करके वह अपना घर-संसार बसा सकती है , किन्तु यहाँ उसकी परिवार-प्रतिबद्धता और संवेदना आड़े आती है । वह केवल अपना स्वार्थ नहीं देखती । वह जानती है कि यदि वह ऐसा करेगी तो उसका परिवार भूखों मर जायेगा । वह एक स्थान पर कहती है —

" मैं किसी शौक को पूरा करने के लिए या फैशन पूरा करने के लिए नौकरी नहीं करती । मैं काम इसलिए करती हूँ कि घर की आवश्यकताएँ पूरी हो जाएँ । परिवार के लोगों को दोनों समय का भोजन मिल सके । " 41

वह नौकरी करती है । दूसरी तरफ उसका भी अपना शरीर-धर्म है । उसके मन में भी किसीका प्रेम पाने की लालसा है ।

किन्तु उसकी मजबूरी या विवशता है कि वह किसीसे विवाह नहीं कर सकती । अतः पुरुष-साहचर्य के लिए किसी अन्य युवक से मित्रता स्थापित करनी पड़ती है । जाहिर है कि ऐसा युवक कोई विवाहित पुरुष ही हो सकता है, क्योंकि अविवाहित युवक तो विवाह के लिए उस पर दबाव डाल सकता है । प्रस्तुत उपन्यास की रंजना अपनी दैहिक आवश्यकताओं के लिए राजन का साथ पकड़ती है । राजन के लिए वह "एकान्त की तलवरी" मात्र है ।[42]

पारिवारिक दायित्वों के लिए रंजना को नौकरी करनी पड़ती है, परंतु यहाँ भी उसकी स्थिति "पचपन खंभे लाल दीवारें" की सुषमा या "टेराकोटा" की मिती या "सत्तम" की पद्मा जैसी नहीं है । उसे अपनी योग्यता के अनुसार नौकरी नहीं मिलती । अर्थशास्त्र की भाषा में जिसे "अण्डर एम्प्लोयमेण्ट" कहते हैं, ऐसी कम पगार की नौकरी उसे करनी पड़ती है । यदि पगार ठीक-ठाक होता तो भी गनीमत थी, क्योंकि परिवार की आवश्यकताएँ उससे पूरी हो जाती और अपनी दैहिक जरूरत के लिए वह राजन या राजन जैसे किसी एकाध व्यक्ति से अपना काम चलाती तो कदाचित उसकी आत्मा को अधिक बोझ न उठाना पड़ता । किन्तु वेतन कम होने से, वेतन के अतिरिक्त कुछ और अधिक पाने के लिए उसे अपने शरीर को उसके लिए भी भुनाना पड़ता है । इसके लिए वह सेठ फलोड़िया की प्राइवेट सेक्रेटरी बनाम उपपत्नी भी बनना स्वीकार करती है । शुरू में थोड़ा मानसिक उहापोह होता है । सेठ फलोड़िया की सेक्रेटरी के रूप में जब उसे एक हजार रुपये वेतन,[43] मकान, फोन और कार की सुविधा मिलती है, तभी उसका माथा ठनकता है । किन्तु जल्दी ही वह इस मानसिक उधेड़बुन से उबर आती है । सेठ मीलिंद के बहाने उसे दिल्ली से फरीदाबाद के गेस्ट हाउस में

ले जाता है और उसके शरीर से खिलवाड़ शुरू कर देता है, तब वह पाषाणवत् होकर उसके सारे व्यवहार को झेल जाती है। रंजना की नौकरी को लेकर उसका भाई रवि अपने पिता से कहता है —

" इस नौकरी के द्वारा क्या वे लड़की को कोठे पर बिठा-कर वेश्या का पेशा नहीं करवा रहे ? " [44] सेक्रेटरी के पद पर रंजना की नौकरी को वह चौबीस घण्टों की चाकरी और खुशामद, बल्कि वेश्यागिरी के अलावा कुछ नहीं मानता। और स्वयं रंजना भी कुछ-कुछ ऐसा ही सोचती है — " नौकरी ही की होती तो भी बात थी। यह तो नौकरी के साथ मैंने अपने आपको भी बेच दिया।" [45] राजन के साथ का अवैध संबंध भी उसे उलझा नहीं अखरता था, क्योंकि उसमें उसकी अपनी मर्जी भी शामिल थी।

रंजना का एक दूसरा भाई अपने परिवार से अलग होकर रहता था। पहले तो वह रंजना से कन्नी काटता था, पर जब वह सेठ करोड़िया की सेक्रेटरी हो गयी, तब वह उससे संबंध बढ़ाने की चेष्टा करता है। अपने भाई के इस बदले हुए रुख की आलोचना करते हुए रवि कहता है — " यह भी खूब है, खून के रिश्ते भी रुपये-पैसे से तौले जाते हैं, रुपये हों तो रिश्ते बन जाते हैं, न हो तो कोई नहीं पूछता। " [46]

खून के रिश्तों का यह खोखलापन हम "गोदान", में " अंगदखून" आदि उपन्यासों में देख सकते हैं।

इधर नारी-शोषण का एक नया कोण नगरीय जीवन में दृष्टिगोचर हो रहा है। अब नारी का आर्थिक शोषण भी हो रहा है। लड़की यदि कमाती है, नौकरी करती है, तो माँ-बाप उसकी शादी के लिए अधिक चिंतित नहीं रहते। इस मूल्य-परिवर्तन को हम कई इधर के उपन्यासों में देख सकते हैं।

यह मूल्य-संक्रमण रूढ़िवादी कहे जाने वाले मुस्लिम समाज में भी आया है, जिसे हम डा. राही मासूम रज़ा के उपन्यास "आधा गांव" में रेखांकित कर सकते हैं। " जब तक जमींदारी रही, तब तक वह परंपरागत जीवन-प्रणाली रहती है। उसके टूटते ही जमींदारी के सब चौंचले भी क्रमशः टूटते गए। लड़की का पढ़ना और नौकरी करना अब अन्दूमियां को अखरता नहीं है। बेटी के पैसे से नहीं पैसे पर लड़की की मां बेटी द्वारा खरीदे गए मातमी लिबास को पहनकर कमलिन में जाने लगी है। " पृष्ठ 47

शीला रोहेकर कृत उपन्यास "किर्चांत" की नायिका आशा का विवाह उसके मां-बाप इसीलिए नहीं करा पाते कि उनके पास दहेज इत्यादि के लिए कोई पूंजी नहीं है। आशा सत्ताईस की हो गई है। उसकी सभी सहेलियों की शादी हो चुकी है। अतः उसका मन विद्रोह करता है। वह स्वतंत्र है। नौकरी करती है। जब उसके पिता उसे समय पर घर आने के लिए कहते हैं और ताकीद करते हैं कि घर में रहना हो तो चौखट के भीतर रहने की कोशिश करो, तो उसका जवाब तो वह देती नहीं है, किन्तु दूसरे दिन और भी लेट आती है। बचपन, कालेज और नौकरी के दौरान उसके जीवन में चार लड़के आते हैं। आशा की इस आवारगी के पीछे वस्तुतः दहेज की समस्या ही कारणभूत है। "सेवासदन", "निर्मला" आदि उपन्यासों में प्रेमचन्दजी इस समस्या की विभीषिका को हम रेखांकित कर चुके हैं।

वस्तुतः सगाई, विवाह आदि में लड़की या लड़के के गुणों को देखना चाहिए। परन्तु हमारे यहां केवल देखा जाता है दहेज। इसका बड़ा ही व्यंग्यात्मक चित्रण श्रीलाल शुक्ल के उपन्यास "राग दरबारी" में हुआ है। गयादीन की पुत्री बेला को कुछ लोग देखने आये हैं। जब उनको लड़की देखने के कहा जाता

है, तब उनमें से एक कहता है —

"लड़की पढ़ी-लिखी है तो अच्छा है और नहीं है तो बहुत अच्छा है, क्योंकि मुझे उससे मास्टरी नहीं करानी है; और लड़की सुन्दर है तो अच्छा है और नहीं है तो बहुत अच्छा है, क्योंकि मुझे उसे कोठे पर नहीं बैठाना है।" [48]

उपर्युक्त कथन से हमारे समाज के एक विशिष्ट वर्ग स्त्री की क्या अहमीयत है, उसे लेकर किस प्रकार की सोच प्रचलित है, उसकी प्रतीति हो जाती है। "राग दरबारी" उपन्यास में ही, और जिस व्यक्ति का उल्लेख किया गया है, वह पैसा के पिता, कन्या के पिता, गयादीन से कहता है — "इन सबकी राय लेकर मैं लड़के की कीमत अन्तिम रूप में दस दिन के भीतर बता दूंगा और कल्याण चाहेगा तो हम और आप समधी बन जायेंगे।" [49]

"राग दरबारी" उपन्यास में दहेज को लेकर एक अन्य आयाम भी चित्रित किया गया है। हमारे समाज में सरकारी महकमों में जो रिश्वत की बढ़ी बढ़ रही है, उसके पीछे भी दहेज की समस्या किसी-न-किसी रूप में कारणभूत है। जो लोग ऐसे विभागों में काम करते हैं, जहां ऊपरी आमदनी का जरिया होता है, वहां यदि कोई प्रामाणिक व्यक्ति बैठा हो तो भी लोग यही समझते हैं कि उनके यहां तो खूब ऊपरी आमदनी होती है, अतः दहेज की रकम अपने-आप बढ़ जाती है। यद्यपि "राग दरबारी" में बात व्यंग्यात्मक ढंग से आयी है। यथा —

"सच तो यह है रंगनाथ बाबू कि लंगड़ ने गलत नहीं कहा था। इस देश में लड़कियां व्याहना भी चोरी करने का

बहाना हो गया है । एक रिश्वत लेता है तो दूसरा कहता है कि क्या करे बेचारा ! बड़ा खानदान है, लड़कियाँ ब्याहनी हैं । सारी बदमाशियाँ का तोड़ लड़कियों के ब्याह पर होता है । " 50

स्वाधीनता के इतने वर्षों बाद भी नारी-विषयक सोच में कोई खास फर्क नहीं आया है, इसका आक्रोश हमें डा. भगवतीशरण मिश्र के उपन्यास " नदी नहीं मुड़ती " की नायिका सुषमा में मिलता है । यथा — " मंत्री महोदय ने मेरे रूप की प्रशंसा की और लोने में सुगंध की भी बात की । पता नहीं कब तक औरत के रूप और कंठ के बहाने उसे छला जाता रहेगा । मैं जानना चाहती हूँ कि क्या केवल पढ़ाई के क्षेत्र में मेरी उपलब्धि ही पर्याप्त नहीं है ? यदि है तो मुझे भी मंत्री महोदय की तरह भाषण देने को ही क्यों नहीं कहा गया ? मुझे गाने को बाध्य किया गया और मेरे रूप के उलटे-सीधे वर्णन हुए । क्या मंत्री महोदय इसलिए मंत्री हैं कि वे बड़े रूपवान हैं अथवा उनके कंठ में कोकिल कंठ का वास है ? उनकी बुद्धि ने उन्हें मंत्री बनाया है या उनके बाँके-सलोने रूप ने ? यदि पुरुष मात्र बुद्धि के बल पर आगे बढ़ सकता है तो औरत के लिए यह रूप और कंठ की बैसाखी क्यों चाहिए ? आशा है आप आगे से किसी लड़की को उसकी बुद्धि के सम्मान में आयोजित समारोह में उसके अपने कंठ का करिश्मा दिखाने को बाध्य नहीं करेंगे और उसके रूप की प्रशंसा में व्यर्थ के पुल बना उसे कांटों में नहीं घसीटेंगे । " 51

उपर्युक्त कथन में सुषमा का जो आक्रोश है, वह इसलिए है कि वह युनिवर्सिटी में फर्स्ट आयी है । उसी उपलक्ष्य में उसे सम्मानित करने हेतु उस समारोह का आयोजन हुआ था । उसकी अपनी, अपने क्षेत्र की उपलब्धियों पर कुछ कहने के लिए उसे कहा जाना चाहिए था । विपरीत इसके उसके रूप और कंठ की बात होती है । यह उचित नहीं था ।

xxx प्रभा खेतान के उपन्यासों में मारवाड़ी समाज में स्त्रियों की जो दयनीय, अस्मितानाशी, प्रतिभाशोषी स्थिति है, उसका यथार्थ आकलन हुआ है। "छिन्नमस्ता" की नायिका तो सुशिक्षिता और आधुनिका है, उसका भी जब दम घुटता है, तो अशिक्षित, अर्द्ध-शिक्षित या कुशिक्षित स्त्री का क्या हाल होता होगा उसे सहज ही समझा जा सकता है। राजी सेठ के उपन्यास "तत्सम" की नायिका वसुधा तो कालेज में लेक्चरर है, तथापि विधवा होने पर उसे अपने समाज तथा घर-परिवार में किस प्रकार लाचारदर्जी का जीवन व्यतीत करना पड़ता है, उसका यथार्थ चित्र मिलता है। समकालीन उपन्यासों में उपर्युक्त उपन्यासों के अतिरिक्त ऐसे अनेक उपन्यास मिलते हैं जिनमें स्त्रियों की हेय या xxx दोयम दर्जे की हैसियत को रेखांकित किया जा सकता है।

दलित-स्त्रियों के संदर्भ में समकालीन उपन्यास :

यह निर्विवाद किया जा चुका है कि औपन्यासिक क्षेत्र में नारी-चित्रण का लेखन तो पूर्व-प्रेमचन्दकाल से ही उपलब्ध होने लगता है; किन्तु दलित-स्त्रियों का लेखन तो प्रेमचन्दकाल से ही मिलता है। प्रेमचन्द का कोई ऐसा उपन्यास न होगा जिसमें दलित-स्त्रियों किसी-न-किसी रूप में न आया हो। जिस लेखक की चेतना के केन्द्र में मनुष्य बैठा हुआ हो — दलित, पीड़ित, शोषित मनुष्य — उसके लेखन में दलित-स्त्रियों एक प्रमुख आयाम के रूप में उभरकर आता है। "कर्मभूमि", "प्रेमाश्रम", "रंगभूमि" तथा गोदान जैसे उपन्यासों में यह मुद्दा विशेष रूप से लेखक की चेतना के केन्द्र में रहा है। परवर्ती प्रबंध में एक स्वतंत्र अध्याय इसके विवेचन-विश्लेषण में दिया जा रहा है। अतः यहाँ हमारा उपक्रम केवल समकालीन उपन्यासों के सन्दर्भ में ही है।

समकालीन दलित-संदर्भ के उपन्यासों में "धरती धन न अपना", "एक टुकड़ा इतिहास", "अलग अलग वैतरणी", "अँधेरे के विरुद्ध", "जल टूटता हुआ" प्रभृति की चर्चा इसी अध्याय में "समाजवादी-यथार्थवादी प्रवृत्ति" शीर्षक के अन्तर्गत कर चुके हैं; अतः इनके अतिरिक्त जो दूसरे उपन्यास हैं, उनको यहाँ चर्चित करने का उपक्रम है।

यादवेन्द्र शर्मा "चन्द्र" कृत "पत्थर के आँसू" एक दलितवर्गीय युवक की त्रासदी है। उपन्यास का नायक दरसन ढोली जाति का है। ठाकुर जीतसिंह उसकी बहन को बलात्कृत करने के इरादे से उठवा लेता है, किन्तु किस्तूरी अपनी इज्जत बचाने के लिए जान पर खेल जाती है। दरसन अपनी बहिन की मौत का प्रतिशोध लेने की ठान लेता है। जब वह किस्तूरी को अग्नि-संस्कार दे रहा था तब उसकी प्रतिहिंसा का भाव उग्र हो जाता है — "चिता के सामने दरसन बैठा था। उसे महसूस हो रहा था कि ये लपटें धीरे-धीरे उसके अपने अन्तर से उठ रही हैं। धीरे-धीरे लाश राख में बदल गयी। लोगों ने देखा दरसन उस गरम राख को हाथ में लेकर मुट्ठी में भींच रहा है। उसकी आकृति भयानक होकर एक क्रूरता में डूब गयी।"[52] प्रस्तुत उपन्यास में दलित जातियों की स्त्रियों पर जो यौन-अत्याचार होते हैं उनका लोमहर्षक चित्रण मिलता है। यह भी बताया गया है कि ढोली जाति की स्त्रियों को नंगी होकर नाचने को विवश किया जाता था।

प्रेमचन्द के उपन्यास "कर्मभूमि" में हरिजनों के मंदिर-प्रवेश की समस्या को चित्रित किया गया है। डा. आरिगपूडि के उपन्यास "नदी का शोर" में इस समस्या को एक दूसरे आयाम से प्रस्तुत किया है। बाँध का ठेकेदार हरिजनों की सहानुभूति

प्राप्त करने के इरादे से उनके लिए एक मंदिर का निर्माण करवाता है, किन्तु हरिजनों के मंदिर-प्रवेश को लेकर गाँव में हंगामा खड़ा हो जाता है — " अगर हरिजन इस मंदिर में आते रहे तो इससे अच्छा यही है कि यह खण्डहर हो जाए, पर यह पवित्र मंदिर उनकी अशुद्ध उपस्थिति से कलुषित न हो ! .... जैसे ही हरिजनों ने मंदिर में प्रवेश किया वैसे ही कुछ ब्राह्मण अपने शाल वगैरह लेकर पिछवाड़े के द्वार से मंदिर के बाहर चले गए । उनका विचार था कि मंदिर की पवित्रता भ्रष्ट हो गयी थी । " 53

प्रेमचन्द के "गोदान" में पंडित मातादीन और सिलिया चमारिन के प्रेम की कथा मिलती है । इसके विपरीत मधुकर सिंह के उपन्यास " सोनभद्र की राधा " में लेखक ने चमार जाति के गोविन्द और नगेसर मिसिर की कन्या अनुराधा के प्रेम और विवाह की कथा का आलेखन किया है । इस प्रसंग को लेकर सामाजिक संघर्ष की स्थिति का भी लेखक ने यथार्थ चित्रण किया है । प्रस्तुत उपन्यास में एक अन्य आयाम भी सामने आया है । इधर समय के साथ अपनी आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ करते हुए दलित-वर्ग में भी कुछ लोग अब उस स्थिति में आ गए हैं जो दलितों से बराबर अपकर लेने की स्थिति में है । सामाजिक परिवर्तन की दृष्टि से इसे एक अच्छा संकेत कहा जा सकता है, किन्तु चिंतनीय स्थिति यह है कि दलितों में भी एक सम्पन्न और अभिजात-वर्ग तैयार हो रहा है, यह "क्रीमी लेयर" के दलित अपने वर्ग के लोगों के साथ वैसा ही व्यवहार कर रहे हैं जैसा सवर्ण जाति के लोग करते हैं । प्रस्तुत उपन्यास में बलेसर रैदास के लड़के इस प्रकार का व्यवहार कर रहे हैं । यथा — " बलेसर रैदास के लड़के अपने को किसी तरह नगेसर मिसिर से कम नहीं समझते । ... बलेसर तो नहीं पर उसका बड़ा लड़का बहुत बड़ा जनेऊ पहनता है । ..... चमरौटी के लोग उससे भय खाते हैं और अपने बीच उसे ब्राह्मण

समझकर उसके सामने खाट या किसी ऊँचे स्थान पर बैठने तक का साहस नहीं करते । " [54] डा. आरिगपूडि के उपन्यास "अभिशाप" का नायक पद्मनाभन भी दलित है । आई.ए.एस. होने के बाद वह अपने वर्ग के लोगों से घृणा करने लगता है ।

ब्रजभूषण द्वारा प्रणीत "मंगलोदय" में गोपाल उपाध्याय के उपन्यास "एक टुकड़ा इतिहास" की भाँति एक अछूत कन्या का विवाह सवर्णयुवक से करवाया गया है । परन्तु जो संघर्ष "एक टुकड़ा इतिहास" में है, उसका यहाँ कुछ अभाव-सा प्रतीत होता है । मंगला और उदय के विवाह का गाँव के लोग विरोध करते हैं, पर उदय डाक्टर है और आत्मनिर्भर है, अतः लोग भुनभुनाकर रह जाते हैं । मंदिर के पुजारी को डा. उदय का लखन नामक एक दलित युवक के साथ उठना-बैठना और खाना-पीना अच्छा नहीं लगता । अतः एक दिन पुजारी उदय को मंदिर-प्रवेश से रोकता है । तब उदय कहता है -- " पोथियों का धर्म अब थोथा हो गया । अब तो इन्सानी धर्म का दौर है पुजारीजी । जो इन्सान-इन्सान से नफरत करना सिखावे वह धर्म नहीं अधर्म है । " [55] किन्तु एक दिन पुजारी का बच्चा कुंए में गिर जाता है, तब लखन उस बच्चे को बचा लेता है । उस पर गाँव का एक अन्य व्यक्ति कमंदर पुजारी से कहता है -- " अछूत के हाथ लगी संतान अब आपके किस काम की " [56]

विपरीत इसके डा. भगवतीशरण मिश्र के उपन्यास " सूरज के आने तक " के पुजारी आधुनिक विचारों वाले हैं और गाँव के लोगों में से छुआछूत की भावना दूर करने के हर संभव प्रयत्न करते हैं । उनके संग तथा उपदेशों के कारण कट्टर से कट्टर जातिवादी लोगों में भी सुधार पाया जाता है । प्रस्तुत उपन्यास में धर्म की सकारात्मक भूमिका मिलती है ।

मन्नू भण्डारी कृत "महाभोज" उपन्यास में बिसू नामक एक दलित युवक की हत्या इसलिए करवा दी जाती है कि वह अपने वर्ग में चेतना फूंकने का कार्य कर रहा था। दलितों को शिक्षित और संगठित कर रहा था। अपने अधिकारों के प्रति सचेष्ट कर रहा था। गुलशे के दलित मजदूरों को वह लघुतम वेतन की बात कर रहा था। न्यस्त हितवाले लोगों को यह कैसे पसंद आ सकता है। पारस-बिगहा में यही तो हुआ था। बिसू की यह हत्या भी एक सामान्य हत्या के रूप में विस्मृत कर दी जाती, किन्तु उन्हीं दिनों में उस ज्वार में उपचुनाव आता है। प्रदेश के मुख्यमंत्री के लिए यह चैलेंज प्रतिष्ठा की होती है। अतः शासक पक्ष तथा विपक्ष बिसू की हत्या को कैसे-कैसे राजनीतिक रंग देते हैं, और अपने हक में उसे कैसे भुनाते हैं उसका बड़ा ही यथार्थ और मार्मिक चित्रण मन्नूजी ने इस उपन्यास में किया है।

रामकुमार भ्रमर कृत उपन्यास "मोतिया" में लेखक हमारे समाज की वह दुरावस्था का चित्रण करते हैं जिसके रहते एक दलित युवक को अपराधी-जीवन जीने पर विवश होना पड़ता है। डाकूरानी फूलनदेवी को भी डाकू बनाने वाली परिस्थितियाँ कुछ इसी प्रकार की थीं। मोतिया " उपन्यास का नायक मोतिया पंडित राम आसरे की पुत्री बिन्दिया को प्रेम करता है। बिन्दिया भी उसे दिलोजान से चाहती है। इस संदर्भ में रघुआ कुम्हार कहता है — " यह अधरम भी है। मोतिया है छोटी जात का आदमी। अपने-अपने पुन्न-पाप से आदमी छोटा-बड़ा होता है, पर ब्राह्मण की बिटिया को फुसलाकर रखना ऐसा पाप मोल ले रहा है, जिसके एवज में कई जनम इन्सान की जून ही नहीं मिल सकेगी। नरक में सड़ना होगा। " [57] प्रस्तुत उपन्यास में यह भी ध्वनित होता है कि छोटी जाति के लोग ही कई बार अन्य छोटी जातियों की भर्त्सना करते हैं और उनमें भी ऊंच-नीच का संस्तरण।

बाकायदा पाया जाता है ।

भीष्म साहनी द्वारा प्रणीत उपन्यास "बसन्ती" की नायिका बसन्ती नाई जाति की है । नाई की गणना भी दलित जातियों में होती है । किन्तु उपन्यास में बसन्ती का चित्रण दलित वर्ग के प्रतिनिधि के रूप में न होकर महानगरों में झुग्गी-झोंपड़ियों में रहने वाले लोगों के रूप में हुआ है । यह एक नया दलित वर्ग है जो महानगरों में पाया जाता है । मंजुल भगत के "अनारो" तथा जगदम्बाप्रसाद दीक्षित के "मुर्दाघर" में इस नये दलित वर्ग की नरकमय जिन्दगी के दस्तावेज मिलते हैं ।

गिरिराज किशोर द्वारा प्रणीत उपन्यास "यथा प्रस्तावित" में दलित-जीवन का एक नया आयाम मिलता है । इस उपन्यास में पालेसर नामक एक दलित व्यक्ति के जीवन की यातनापूर्ण स्थितियों को उकेरा गया है । पालेसर भारतीय प्रशासन में चौथी श्रेणी का कर्मचारी है । पालेसर एक कर्तव्यनिष्ठ , स्वाभिमानी , अपने अधिकारों के प्रति जागरूक तथा संवेदनशील कर्मचारी है । सवर्णों के वर्चस्व के कारण उसे भयानक अमानवीय यातनाओं से गुजरना पड़ता है । इसके परिणामस्वरूप अन्ततः वह विक्षिप्त हो जाता है । इस उपन्यास के संदर्भ में डा. विजेन्द्रनारायण सिंह अपनी सार्थक टिप्पणी देते हैं — " लेखक ने पालेसर और उसके पारिवारिक जीवन की त्रासदी का चित्रण करते हुए उन शक्तियों को भी लक्ष्य किया है जो संगठित चालाकी और स्वार्थ के चलते उसे अनिवार्य शोषण एवं अमानवीय यातना की गिरफ्त में रखती है । " 58

सन् 1998 में रामधारी "दिनकर" का उपन्यास "आग-पानी-आकाश" दलित जीवन के एक नये आयाम को उकेरता है । प्रस्तुत उपन्यास में यह संकेतित किया गया है कि सर्वहारा

में भी एक लायन्त बैठा हुआ है । प्रस्तुत उपन्यास का बब्बन धोबी अपने को "राजधोबी" कहता है, क्योंकि वह जमींदारों का धोबी था । वह अपनी आर्थिक समस्याओं से संघर्ष करते हुए अपने दोनों बेटों को पढ़ाता है । जमींदारों से अपने तरीकारों और संबंधों को भुनाते हुए वह ठेकेदार हो जाता है और काफी संपन्न हो जाता है । जब वह धनी-मानी हो जाता है, तब उसका व्यवहार भी पुराने सामंतों-सा ही हो जाता है ।

मराठी का दलित साहित्य काफी संपन्न है । अभी हिन्दी में दलित-साहित्य के ये तेवर दृष्टिगत नहीं हो रहे हैं, तथापि दलित लेखकों की दो-तीन कृतियां हमारा ध्यान आकृष्ठ किए बिना नहीं रहतीं । इनमें ओमप्रकाश वाल्मीकि कृत "जूठन", मोहनदास नैमिशराय कृत " अपने अपने पिंजरे " तथा भगवानदास कृत " मैं बंसी हूं " आदि का उल्लेख किया जा सकता है । किन्तु ये तीनों कृतियां "आत्मकथाएं हैं । अतः उनकी सविशेष चर्चा को यहां स्थान नहीं है ।

ऊपर मोहनदास नैमिशराय का उल्लेख किया गया है । इधर सन् 2001 में उनका एक उपन्यास "सुबिधाबर्ग" प्रकाशित हुआ है । अतः उसके उल्लेख का मोह-संवरण नहीं कर पा रहा । इस उपन्यास का नायक एक दलित युवक बंसी है । आजादी से पहले वह नवाब अली-वर्दी खां के यहां नौकर था । नवाब साहब उसके साथ अमानुषी व्यवहार करते हैं । उसका अपमान करने हेतु नवाब साहब कई बार उसकी हथेली में थूकते हैं । बंसी की हथेली उनका पीकदान हो जाता है । थूक ही नहीं कई बार उसमें वीर्यस्खलन भी होते हैं । किन्तु आजादी के बाद बंसी नवाब की नौकरी से इन्कार कर देता है । आजादी की पहली सुबह को ही बंसी की पत्नी सुंदरी एक बालक को जन्म देती है । इस उपन्यास की आलोचना करते हुए

डा. तेजसिंह अपनी सार्थक एवं मार्मिक टिप्पणी प्रस्तुत करते हैं —

" घंसी के बेटे के नामकरण-संस्कार वाला प्रसंग दलितों की सांस्कृतिक चेतना को उभारता है । पहली बार पं. केशवप्रसाद दलित बस्ती से निराश लौटा था । उसके मान पर प्रश्नचिह्न लग गया था । आज तक ऐसा नहीं हुआ कि पंडितजी द्वारा रखे गए— बाबू , रघ्घू , भोलू , मंगलू या फिर बुद्धू आदि नामों पर दलित विरोध करें । घंसी ने अपने बेटे का नाम बुद्धू न रखकर सुनीत रखा और दलित बस्ती को बरसों तक अपनी बपौती समझने वाले पंडित केशवप्रसाद के धार्मिक वर्चस्व को छिन्न-भिन्न कर दिया । इसलिए "आज एक पंडित बाजी हार गया था और दलित जीत गया था । " पंडित के कान में घंसी के ये शब्द गूंज रहे थे , " आज के बाद बस्ती में किसी पंडित की करतूत नहीं चलेगी । यह डा. अंबेडकर के विचारों का गहरा प्रभाव है जो दलितों को धार्मिक-रूढ़ियों परंपराओं के विरुद्ध खड़ा करता है । " 59

स्वाधीनता-प्राप्ति का कितना गहरा असर घंसी पर है इसका पता हमें उसके निम्न कथन से पता चलता है । जब नवाब साहब घंसी से कहते हैं कि वह सुनीत को हवेली काम के लिए भेज दें , तब वह नवाब साहब को कहता है — " नवाब साहब , अब मैं न किसी की गुलामी करूंगा और न मेरा बच्चा । ... मुझे गुलाम को रखने की आदत नहीं नवाब साहब , वैसे भी देश अब आजाद हो गया है । अब न कोई किसी का गुलाम है और न कोई किसी का मालिक । सब बराबर है । " 60

प्रस्तुत उपन्यास में हमें वहाँ स्थानों पर ऐसे बिन्दु मिलते हैं , जहां सवर्ण यथास्थितिवादियों के चेहरे दृष्टिगत होते हैं । दलित करतारा के बेटे को स्कूल में इसीलिए प्रवेश नहीं दिया जाता कि

वह अगर पढ़-लिख गया तो स्कूल में झाड़ू कौन लगाएगा । करतारा ब विनम्रतापूर्वक प्रार्थना करता है कि यदि आपकी कृपा हुई तो बच्चा दो अक्षर पढ़ जायेगा । इस पर मास्टर पांडे कहते हैं कि पहले तुम लोगों ने मंदिरों को भ्रष्ट किया , अब स्कूलों में भी क्या अपनी गंदगी फैलाओगे ? लेकिन बंसी के बेटे सुनीत ने जब आचार्य से भिड़कर उसका दाखिला करा दिया तब मास्टर पांडे आचार्य को ही खरी-खोटी सुनाने लगते हैं — " आगे अगर किसी चमार-भंगी के लौंडे-लपाड़े को आपने इस स्कूल में दाखिला दिया तो बात बिगड़ जाएगी कि फिर लगातार मुश्किल हो जाएगी । " 61 तब आर्य-समाजी आचार्य रामलाल सोचते हैं — " हिंदू धर्म को बचाना है तो उदारता से ही काम लेना पड़ेगा । सनातनियों की कट्टरता हिन्दू धर्म को कहीं का न छोड़ेगी । " 62

उपन्यास में यह भी उकेरा गया है कि शिक्षा-संस्थाओं में ब्राह्मणवादी संस्कारों (कुसंस्कारों ?) से ग्रस्त अध्यापक दलित छात्रों को ठीक से नहीं पढ़ने देते हैं । किन्तु इस उपन्यास की एक और विशेषता है — लेखक की तटस्थता और न्याय-विवेक बुद्धि । वे कुछ ऐसे अदलित चरित्रों की भी सृष्टि करते हैं जिनके हृदय में दलितों के प्रति सच्ची सहानुभूति है । आर्यसमाजी आचार्य रामलाल तथा सुनीत की सहपाठी सुमित्रा आदि ऐसे ही पात्र हैं । इससे उपन्यास एकांगी होने से बच गया है ।

उपन्यास का शीर्षक है — मुक्तिपर्व । सुनीत और सुमित्रा साथ ही पढ़ते हैं और साथ ही "टीचर-ट्रेनिंग " भी लेते हैं । सुनीत शिक्षक बनकर अपनी ही बस्ती में आ जाता है , एक नयी ऊर्जा और चेतना को लेकर । " आजादी के बाद दलितों की नयी पीढ़ी में का कोई व्यक्ति शिक्षक बना था दलितों के भविष्य को बदलने के महान उद्देश्य और मिशन को लेकर । ... पहली बार गुलामी से

मिली आजादी को दलितों ने मुक्तिपर्व के रूप में मनाया । " 63

अभिप्राय यह कि दलित-विमर्श को लेकर जो यज्ञ प्रेमचन्दजी ने शुरू किया था , वह आज भी अविरल गति से चल रहा है । गैर-दलित लेखकों के साथ-साथ अब दलित लेखक भी इस महायज्ञ में जुट गए हैं ।

हिन्दू-मुस्लिम एकता और वैमनस्य के संदर्भ में समकालीन उपन्यास :

प्रेमचन्द की अनेक चिन्ताओं में हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य भी एक प्रमुख चिन्ता थी । वे हिन्दू-मुस्लिम एकता के प्रबल हिमायती थे । प्रेमचन्द का समय तो आजादी के पहले का समय है । तब तो यह भी एक बहाना ~~xxx~~ था कि हिन्दू और मुसलमानों में दरार पैदा करने वाले और उनमें फूट डालने वाले अंग्रेज हैं । पर अब तो अंग्रेजों को गए भी एक अरसा हो गया है , फिर भी हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य दिन दूना रात चौगुना बढ़ रहा है । दोनों तरफ के कट्टर-वादी तत्व ‖ ‖ इस आग को हवा दे रहे हैं । आजादी के बाद कितनी ही बार हमारे यहाँ हिन्दू-मुस्लिम दंगे हुए हैं । तस्वीर का खराब पहलू यह भी है कि पहले यह आग नगरों और महानगरों में ही भड़कती थी , अब तो कस्बे और गाँव भी उसकी लपेट में आ गये हैं ।

यशपाल कृत "झूठा सच" , भगवतीचरण वर्मा कृत " प्रश्न और मरीचिका " , शमशेरसिंह नरूला कृत " एक पंखुड़ी की तेज धार" आदि उपन्यासों में हम इस समस्या के नाना रूपों को देख चुके हैं । भीष्म साहनी ने अपने उपन्यास "तमस" में इस समस्या की सही , यथार्थ और कलात्मक शैल्प-विधिवत्ता ~~xx~~ की है । दंगों की राजनीति और दंगों का मनोविज्ञान इसमें बखूबी उभरकर आया है ।

डा. राही मासूम रज़ा के उपन्यास " आधा गाँव ", "दिल एक सादा कागज़ " तथा "टोपी शुक्ला " में हम इस समस्या के नाना रूपों को देख सकते हैं । इसमें विभाजन की कसक भी है और जमींदारी के उन्मूलन से मुस्लिम सामंतवाद पर जो गहरा असर पड़ा था उसके परिणामों को भी रेखांकित किया गया है । इसमें एक बात यह भी उभरकर आयी है कि जमींदारी उन्मूलन से हिन्दू जमींदार को किसी-न-किसी प्रकार से अपनी कुछ जमीनों को बचा लेते हैं, पर मुसलमान जमींदार पूरी तरह से उसकी चपेट में आ जाते हैं ।

मुमताज़ मुफ्ती के उपन्यास "झूठा सच " में भी प्रकारान्तर से यह समस्या मिलती है । कट्टरवादी तत्व किस प्रकार राष्ट्रवादी उदारमतवाले मुस्लिमों को भी कट्टर बना देते हैं, उसके कई उदाहरण हमें इस उपन्यास में मिलते हैं । उपन्यास का एक पात्र पाकिस्तान जाने की हिमायत करते हुए कहता है कि हिन्दुस्तान में रहकर हिन्दूगीदड़ दोयम दर्जे का नागरिक बनने से तो अच्छा है कि हम पाकिस्तान ही चले जाएं । डा. रज़ा ने एक बार बिल्कुल सही कहा था कि एक भाई अपने दूसरे भाई को दरोस उठकर यह याद नहीं दिलाता कि वह उसका भाई है । पर मुसलमानों को बारबार यह कहने की जरूरत पड़ती है, तो उसके कारणों की पहचान करनी चाहिए ।

आगे जिस "आधागाँव" उपन्यास की चर्चा की गई है, उसमें इधर जो साम्प्रदायिक सोच बढ़ रही है, उसका संकेत कुछ नमूनों के रूप में मिलता है — " ... तो मुसादीन पंडित तकरीर किहिस । कहिस कि मलिच्छ मुसलमानों को भारतवरस से निकाल देवे को चाहिए । अगर हुँ लखनौद को मंदिर बनाए के

वास्ते जमीन हम दिया रहा । बाप-पीर जो दस गंडा जमीन अलग से दिया । उधर हैं साला तकरीर कर रहा उधर ईसी ना सोच रहा कि आखिर कन्नौं मुसलमाने हैं । " 63 64

कंवर एहतेशाम के उपन्यास "सूखा बरगद " में एक मुसलमान पात्र कह रहा है — " हम भरते हैं साले डेमोक्रेसी का ! हर जगह भूमि-पूजन है , हर तकरीर में संस्कृत का गाना और देवी-देवताओं का नाच-कूद ! कोई पूछे , हिन्दुओं के अलावा और किसीको इससे क्या मतलब ? हम हिन्दी तक राजी हुए तो कहने लगे अब तो तुम्हें संस्कृत तक सीखनी पड़ेगी ! क्या होगा इस मुल्क में मुसलमानों का ! "65

अब्दुलबिस्मिल्लाह के उपन्यास " झीनी झीनी बीनी चदरिया " में एक मुस्लिम बच्चा कहता है : " हमारे स्कूल में न , शाम को , "शाखा " लगती है , मुझे उसमें जाने नहीं देते । कहते हैं , तुम मियां हो , ' शाखा ' में तुम्हारा क्या काम ? और अब सारे लड़के हमें मियां मियां , मुसल्ला , कटुआ कहके चिढ़ाते हैं । बहुत बुरी-बुरी गालियां बकते हैं । मैं अब स्कूल नहीं जाऊंगा । " 66

अमृता सरावगी के उपन्यास " कलि कथा : वाया बाईपास " का निम्नलिखित उद्धरण देखिए :— " हिन्दू महासभा , राष्ट्रीय-स्वयंसेवक संघवाले क्या गलत कहते हैं ? जब हजार सालों में भी हिन्दू और मुसलमानों को साथ रहना नहीं आया , तो अब आगे कैसे आ जाएगा ? ... मुसलमानों को कोई पछतावा नहीं है कि उन xx लोगों ने हिन्दुओं के मंदिरों को तोड़ा और हम लोग ठेका में उनकी मस्जिदों की रक्षा का ? " 67

अब देखिए डा. भगवानसिंह के उपन्यास " उन्माद " के ये वाक्य : " एक जमीन पर कब्जा जमाने की कुराफात थी , जिसे "दो समुदायों के xxxxxx बीच का झगड़ा बताया गया था । सबसे

तकलीफ की बात यह थी कि इस ढेरी में एक हिन्दू और एक मुसलमान को इलाक दिखाकर हिसाब भी बराबर कर दिया गया था । किसी {अखबार} ने यह नहीं लिखा कि मरने वाले मुसलमान और हिन्दू दोनों एक ही थे और दोनों उन्हीं गुण्डों के हाथों मारे गए थे , जो थे तो मुसलमान , मगर उनका हत्याकाण्ड जिस आदमी ने किया था वह xxxx मजहबी नुक्ते से हिन्दू था । " 68

ऊपर जिन उपन्यासों से उदाहरण दिए गए हैं , उनसे साफ-साफ झलक रहा है कि इधर साम्प्रदायिक कट्टरता बहुत बढ़ रही है । दोनों तरफ के कट्टरवादी लोग जैसी जहर फैला रहे हैं और उसके कारण सामान्य आमफहम अमनपसंद लोग दुःखी हो रहे हैं और कहीं-कहीं तो इन कट्टरवादियों के शिकार भी हो रहे हैं । इस संदर्भ में डा. वीरेन्द्र यादव का निम्नलिखित अभिमत उल्लेखनीय रहेगा —

" साम्प्रदायिकता और सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का यह औपन्यासिक विमर्श मात्र एक साहित्यिक संरचना न होकर उस अन्ध - धार्मिकता का परिणाम है जो " एक राष्ट्र , एक धर्मxx धर्म व एक संस्कृति " की आड़ में उन हिन्दुत्ववादी शक्तियों का पोषण करती रही है , जिनके लिए 6 दिसम्बर , 1992 एक विजय-पर्व है । यह अकारण नहीं है कि हिन्दी के जिन उपन्यासों में साम्प्रदायिकता की समस्या एक केन्द्रीय विमर्श के रूप में नहीं भी उपस्थित रही है , वहाँ भी इसका ताप चाहे-अनचाहे महसूस किया जा सकता है । "गोदान" में झींगा के माध्यम से प्रेमचन्द जब यह सूचना दर्ज करते हैं कि उसकी बेटी मुनिया का आदमी बम्बई में दूध की दुकान करता था । उन दिनों में वहाँ हिन्दू मुसलमानोंxx में मुसलमानों में दंगा हुआ , जिसने उसके पेट में छुरा भोंक दिया {गोदान , पृ. 23 } तो वे भारतीय समाज की जिस नाजुक

विडम्बना को लक्षित करते हैं, वह आज भी उतनी ही बड़ी सच्चाई है, जितनी "गोदान" के देशकाल में। "गोदान" की मूलकथा में इस तथ्य से कोई अन्तर न पड़ने के बावजूद कि धनिया का पति साम्प्रदायिक दंगों में मारा गया या बीमारी की भेंट चढ़ गया, यदि प्रेमचन्द "गोदान" के इस अनाम पात्र की मौत का कारण साम्प्रदायिक दंगा उल्लिखित करते हैं, तो यह उस गहरी औपन्यासिक दृष्टि का परिणाम है, जो प्रकट रूप से गैर-जरूरी विवरण को भी गहरी अर्थवत्ता प्रदान करता है।" 69

निष्कर्ष :

अध्याय के सम्यावलोकन से निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि प्रेमचन्द एक युगान्तकारी लेखक हैं। युगान्तकारी लेखक की दृष्टि न केवल वस्तुनिष्ठ होती है, अपितु वह अपनी परंपरा के प्रगतिकामी तत्वों को संजोता हुआ, अपने समय की सम्पृक्तता को आत्मसात करता हुआ, आनेवाले समय की आहट को भी पहचान लेता है। कहना न होगा कि प्रेमचन्द में हमें ये तीनों बातें उपलब्ध होती हैं। फलतः समकालीन लेखन में भी उनके लेखन की गूंज-अनुगूंज प्रतिगोचर हो रही है। प्रेमचन्द आज भी उतने ही प्रासंगिक हैं, जितने अपने समय में थे। बल्कि आज उनके जैसे लेखक की उपादेयता हम और अधिक सिद्दत से महसूस कर रहे हैं। ध्रुवतारक की भांति आज भी वे साहित्य जगत की दशा-दिशा निर्धारित करने में सक्षम हैं।

===== XXXXXX =====

:: सन्दर्भसूची ::

§1§ मदनगोपाल : कलम का मजदूर : पृ. 307 ।

§2§ वही : पृ. 308 ।

§3§ कलम का सिपाही : अमृतराय : पृ. 636 ।

§4§ वही : पृ. 636-637 ।

§5§ वही : पृ. 635 ।

§6§ द्रष्टव्य : वही : पृ. 645 ।

§7§ वही : पृ. 645 ।

§8§ जल टूटता हुआ : डा. रामदरश मिश्र : पृ. 389 ।

§9§ वही : पृ. 43 ।

§10§ वही : पृ. 353-354 ।

§11§ अलग अलग वैतरणी : डा. शिवप्रसाद सिंह : पृ. 663-664 ।

§12§ वही : पृ. 685-686 ।

§13§ वही : पृ. 686 ।

§14§ सूखे तेल के फूलों पर : डा. पारुकान्त देसाई : पृ. 113 ।

§15§ साठोत्तरी हिन्दी उपन्यास : डा. पारुकान्त देसाई : पृ. 24 ।

§16§ द्रष्टव्य : हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद : पृ. 564 ।

§17§ नदी फिर बह चली : हिमांशु श्रीवास्तव : पृ. 399 ।

§18§ जैनेन्द्र : उपन्यास के फ्रेम में ।

§19§ एक टुकड़ा इतिहास : गोपाल उपाध्याय : पृ. 278 ।

§20§ "आधुनिक उपन्यास : विविध आयाम " : डा. विवेकीराय : पृ. 84 ।

§21§ मैला आँचल : रेणु : पृ. 136 ।

§22§ बिजली के फूल : डा. पारुकान्त देसाई : पृ.

§22§ हिन्दी उपन्यास : उपलब्धियाँ " : डा. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : पृ. 64 ।

§23§ प्रश्न और मरीचिका : भगवतीचरण वर्मा : पृ. 39-40 ।

§24§ वही : पृ. 246 ।

§26§ सूने गैमल के वन्तों पर : पृ. 72 ।

§27§ द्रष्टव्य : संदेश §गुजराती दैनिक § : दि. 10-4-2001 ।

§28§ प्रश्न और मरीचिका : पृ. 382 ।

§29§ द्रष्टव्य : प्रश्न और मरीचिका : पृ. 513 ।

§30§ हिन्दू गोद व भरणपोषण अधिनियम : 1956 : धारा-8 ।

§31§ वही : धारा -6 ।

§32§ द्रष्टव्य : लेख : " रोके नहीं रुकते बालविवाह " : औरोक शर्मा : रविवारीय जनसत्ता : 17-अप्रैल-1988 : पृ. 4 ।

§33§ The run away man : India Today : 31 Jan : 1987 p. 89

§34§ shocking Death : sunday mail : 18-24 oct : 1987

§35§ औरत होने की सज़ा : ~~कलीना नसरीन~~ अरविंद जैन : पृ. 31-32 ।

§36§ हिन्दी उपन्यास : सं. डॉ. कुसुम प्रियदर्शिनी : पृ. 217 ।

§37§ रचनाकार रामदरश मिश्र : सं. डा. नित्यानंद तिवारी : तथा डा. ज्ञानचन्द्र गुप्त : पृ. 191 ।

§38§ " आधुनिक उपन्यास -: विविध आयाम " : डा. विवेकीराय : पृ. 97 ।

§39§ बात एक औरत की : कुसुम अग्निहोत्री : पृ. 144 ।

§40§ वही : पृ. 123 ।

§41§ दो लड़कियाँ : रजनी पनिकर : पृ. 31 ।

§42§ द्रष्टव्य : वही : पृ. 8 ।

§43§ उपन्यास 1973 का है और इस एक हजार का वेतन भी अच्छा माना जाता था ।

§44§ दो लड़कियाँ : पृ. 90 ।
§45§ वही : पृ. 103 ।
§46§ वही : पृ. 44 ।
§47§ साठोत्तरी हिन्दी उपन्यास : पृ. 89 ।
§48§ राग दरबारी : पृ. 380 ।
§49§ वही : पृ. 380 ।
§50§ वही : पृ. 48 ।
§51§ नदी नहीं मुड़ती : डा. भगवतीशरण मिश्र : पृ. 182 ।
§52§ पत्थर के आँसू : यादवेन्द्र शर्मा "चन्द्र" : पृ. 32 ।
§53§ नदी का शोर : डा. आरिगपूडि : पृ. 126 ।
§54§ सोनभद्र की राधा : मधुकरसिंह : पृ. 15 ।
§55§ मंगलोदय : ब्रजभूषण : पृ. 21 ।
§56§ वही : पृ. 41 ।
§57§ मोतिया : रामकुमार भ्रमर : पृ. 46 ।
§58§ आलोचना : जून अंक : 1983 : उपन्यास अंक : पृ. 54 ।
§59§ हंस : अगस्त-2001 xxxxxxxxxxxx : पृ. 93-94 ।
§60§ मुक्तिपर्व : डा. मोहनदास नैमिशराय : पृ. 38 ।
§61§ वही : पृ. 104 ।
§62§ वही : पृ. 104 ।
§63§ हंस : अगस्त - 2001 : पृ. 95 ।
§64§ आधा गाँव : डा. राही मासूम रज़ा : पृ. 284 ।
§65§ सूखा बरगद : मंजूर एहतेशाम : पृ. 145-146 ।
§66§ मुर्दा क्या देखे : अब्दुल बिस्मिल्लाह : पृ. 125 ।
§67§ कलि-कथा : वाया बाई पास : अलका सरावगी : पृ. 171 ।
§68§ उन्माद : डा. भगवानसिंह : पृ. 275 ।
§69§ आलोचना : अप्रैल-जून-2000 : सहस्राब्दी अंक : पृ. 198 ।

===== xxxxxx =====